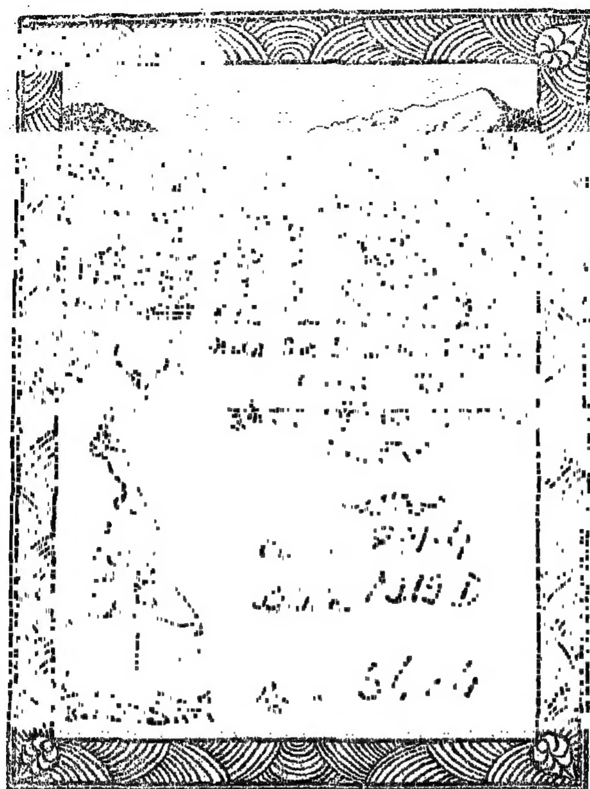


शर्माजी के ये निबंध अँगरेजी और हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित कर साहित्यानुरागियों के लिये सहज-सुलभ बनाना हमने अपना कर्तव्य समझा है। इन निबंधों के विषय में हमें कुछ अधिक कहने की स्वतंत्रता नहीं। लेखक महोदय को यह भी स्वीकार नहीं कि पुस्तक में, आई हुई पूर्व-सम्मतियाँ, साधारण रीति के अनुसार, छापी जाएँ।

हमें खेद है कि इस पुस्तक के लिये साहित्य-प्रेमियों को इतनी प्रतीक्षा करनी पड़ी है। एक तो हमें पांडुलिपि ही लगातार तकाजों के बाद मिली, फिर, दूसरे अनिवार्य कारण भी उपस्थित होते रहे। हम आपको विश्वास दिलाते हैं, लेखक की दूसरी विज्ञापित पुस्तकें अविलंब ही प्रकाशित होंगी।

कलाकार दामोदरजी ने पुस्तक के रूप को सँवारा है पर समयाभाव के कारण वे आवरण-पट नहीं बना सके। इसका उन्हें भी खेद है और हमें भी। हम श्रीमती शर्मा के आभारी हैं जिन्होंने बड़ी शीघ्रता में डिजाइन बनाकर पुस्तक का प्रकाशन संभव किया। पुस्तक आपके हाथों में है।

प्रथम भाग

दृष्टिकोण

साहित्य, कला तथा मनोविज्ञान सम्बन्धी

नलिन विलोचन शर्मा

पुस्तक-भंडार, पटना-४

द्वितीय संस्करण | सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक
पुस्तक-भंडार
पटना
लहेरियासराय
राँची

मुद्रक
श्री हिमालय प्रेस,
पटना

मूल्य : तीन रुपये

जननान्तर-सुहृद्

उमानाथ जी

को

निवेदन

मुझसे मेरे एक मित्र ने एक बार पूछा था कि मुझे कहानियाँ लिखने की प्रेरणा कहाँ से, कैसे मिलती है। मैंने उनसे सच बात बता दी थी कि तात्कालिक प्रेरणा तो सम्पादकों के पत्रों से ही मिलती है, गहराई में और जो भी कारण हों। इन प्रबन्धों के बारे में भी यही बात है और मैं समवेत रूप से उन सम्पादक-मित्रों का धन्यवाद करता हूँ, जिनके स्नेहानुरोध के फलस्वरूप ही थोड़ा-बहुत लिख सका हूँ।

इस संग्रह में, चाहने पर भी, कई रचनाएं न जा सकीं, क्योंकि उनकी प्रतिलिपियाँ, दुर्भाग्य से, उपलब्ध न थीं। 'दृष्टिकोण' के दूसरे भाग में उन्हें संगृहीत किया जा सकेगा, ऐसी उम्मीद रखता हूँ।

यों तो आजकल की यह एक प्रथा-सी है कि सभी प्रकार की साहित्यिक पुस्तकों में भूमिकाएँ रहती ही हैं, किन्तु बहुत-सी दूसरी साहित्यिक प्रथाओं की तरह इसका भी मैं कायल नहीं। मुझे अपने प्रबन्धों के बारे में अपनी ओर से कुछ भी कहना शेष नहीं है: इन्हें अपने सम्बन्ध में खुद ही बोलना है।

हाँ, आभार स्वीकार करने के निमित्त, इतना कहना शायद आवश्यक है कि ये सभी प्रबन्ध हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के सामान्य तथा विशेष अङ्कों में प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ, जो मूलतः अँगरेजी में लिखे गए थे, अँगरेजी की पत्र-पत्रिकाओं में छपने के बाद फिर अनूदित होकर हिन्दी में। मैं उन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों का विशेष रूप से इसलिए आभारी हूँ, क्योंकि उन्होंने इनके पुस्तकाकार प्रकाशन के लिए सहर्ष अनुमति दी है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के सिलसिले में, जिन प्रियजनों को मुझसे कहीं अधिक परिश्रम करना पड़ा है। उनके संकोचशील स्वभाव से परिचित होते हुए भी, अपने ही कृतज्ञताभार को हलका बनाने के लिए, कुछ कहने का साहस करना ही पड़ता है। श्रीमती शर्मा ने कई लेखों की प्रतिलिपियाँ तैयार कर इस पुस्तक की छपाई में बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया है, लेकिन इन सब बातों की फिक्र तो मुझसे ज्यादा उन्हीं को रहती भी है। उमानाथजी को पुस्तक समर्पित कर चुका हूँ और उनसे उऋण

होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। कलाकार दामोदरजी ने इस पुस्तक को रूप दिया है और इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। पुस्तक-भंडार के संचालक की शालीनता का अनुभव पाकर, यह मानने को जी नहीं चाहता कि हिन्दी के प्रकाशक सचमुच वैसे होते हैं, जैसा लोग कहते हैं। शिवचन्द्रजी और रमेशजी मेरे अनुज के समान हैं और उन्हें कष्ट दिया है, तो उसका अधिकार भी मुझे है। पटना लॉ प्रेस के व्यवस्थापक श्रीजगद्‌बन्धु बोस का भी बहुत-बहुत धन्यवाद करता हूँ और उनके साथ ही उनके प्रशंसक शत्रुघ्नजी का भी, जो उमानाथजी के सुयोग्य सहकारी तथा मेरे स्नेहशील मित्र हैं।

लेकिन, जिनका ऋणी हूँ उनकी तालिका भी क्या कभी पूर्ण हो सकती है ? मैं अपने सभी दूसरे स्नेही मित्रों की, नामोल्लेख के बिना ही, अभ्यर्थना कर इस निवेदन को समाप्त करता हूँ।

पटना,
माघी पूर्णिमा, सं० २००३ वि०

—नलिन विलोचन शर्मा

विषय-सूची

साहित्यिक



साहित्यिक

साहित्य में ग्राम्यता और अश्लीलता

कला में ग्राम्यता चिन्तनीय है। कला में अश्लीलता नासमझ आलोचकों का भ्रम है। ग्राम्यता सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में किसी कलाकृति में अनिवार्य है। शैली की पूर्णता (पर्फेक्शन्) के साधक साहित्यिक फ्लाबेयर का कहना था कि साधारणता (कामनप्लेस) सर्वव्याप्त गुण है और इस कारण कोई कलाकार उससे सर्वथा मुक्त नहीं रह सकता। 'साहित्य में ग्राम्यता' (वल्गरिटी इन लिट्रेचर) नामक पुस्तिका में आल्डुअस हक्सले ने भी कहा है कि सिद्धान्तरूप से मनोभावों की अभिव्यञ्जनामात्र ग्राम्य है। इसीलिए कलाकार को यथासम्भव निर्वैयक्तिक रहने की चेष्टा करनी चाहिए; यों तो सूक्ष्म रूप में जिस क्षण कलाकार ने आत्माभिव्यञ्जन किया, ग्राम्यता आ ही गयी।

कलाकार ग्राम्यता से बिलकुल बच नहीं सकता। आलोचक का काम है वह देखे कि कलाकार इससे कहाँ तक अपनेको बचाये रख सका है। लेकिन आलोचक ने तो अपने को नियुक्त कर रखा है कला में अश्लीलता ढूँढ़ निकालने के लिए। और

वह जिस चीज को अश्लीलता का नाम देता है, उससे किसी महान् कलाकार की कृति मुक्त नहीं पायी जा सकती। कहने का मतलब यह नहीं कि यह चीज ही कला को महान् बना देती है, लेकिन यह चीज रहती जरूर है सभी महान् कला के रूप में स्वीकृत कृतियों, रचनाओं में। किसी देश का साहित्य, चित्रकला, मूर्त्तिकला पढ़िये-देखिये, आपको सहमत होना पड़ेगा।

मैं अपना आशय उदाहरण से स्पष्ट करूँ। उग्रजी का 'चाकलेट' कला-कृति नहीं, मैं खुद भी मानता हूँ। लेकिन, इसलिए नहीं कि वह अश्लील है, वरन् इसलिए कि वह ग्राम्य है। उग्र की अभिव्यञ्जना में निर्वैयक्तिकता नहीं है वे स्वयं कहते हैं कि उनकी पुस्तक का उद्देश्य है समाज का पर्दाफाश कर उसका सुधार करना। लेकिन इस सदुद्देश्य के लिए उन्हें समाजशास्त्रोचित गम्भीर शैली के निबन्ध लिखना उचित था, सस्ते आकर्षणवाली कहानियाँ नहीं।

लेकिन आप जानते हैं कि उनके किसी आलोचक ने उनपर यह अभियोग कभी नहीं लगाया कि उनकी कला में ग्राम्यता है और इसलिए वह सदोष है। उनकी आलोचना जिसने भी की, वह इसीलिए कि उन्होंने अश्लील विषय को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। 'दृष्टिकोण' के प्रथम संस्करण के प्रकाशन के बहुत वर्षों बाद उग्र की इस पुस्तक के नए संस्करण में, किमाश्चर्यमतः परम्, स्वयं महात्मा गाँधी का एक पत्र उद्धृत है जिसमें उन्होंने लेखक को अश्लीलता के दोष से मुक्त माना है। और आलोचक समझदारी की पटरी से यहीं उतर जाता है। अगर उग्रजी की यह रचना 'घासलेटी', है, तो उसका अर्थ यही माना जा सकता है कि

वह ग्राम्य है। और 'घासलेट', इस अर्थ में, उग्रजी की रचना के लिए जितना उपयुक्त है उतना ही पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी की तनकीदी जिहाद के लिए भी सच है।

मैंने कहा यौन सम्बन्ध अपने में अश्लील नहीं। आज के समस्त मनःसमीक्षण-प्रधान पाश्चात्य गल्प को प्रभावित करने-वाले अमर फ्रेंच औपन्यासिक मार्सेल प्रू की रचनाओं में इस विषय का पर्याप्त उल्लेख मिलता है, लेकिन उन पर लिखी गयी प्रतिकूल आलोचनाओं में भी इस बात की शिकायत नहीं की गयी है—इसके लिए विरोध नहीं किया गया है। साहित्या-लोचन में विषय की अश्लीलता का प्रश्न उठाना ही असङ्गत है।

रैडक्लिफ हाल के 'द वेल ऑफ लोनलिनेस' को लेकर अँगरेजी के आलोचकों ने अपनी घासलेटी तथा ग्राम्य मनो-वृत्ति का परिचय दिया था। इसमें स्त्रियों के सयोनि सम्बन्ध का विश्लेषण किया गया है और इस दृष्टि से यह और भी आपत्तिजनक बताया गया था। लेकिन इस उपन्यास में वह निर्वैयक्तिकता है, जिसका 'चाकलेट' में सर्वथा अभाव है। इसीलिए विवेकशील आलोचकों को 'द वेल ऑफ लोनलिनेस' के महत्त्व के विषय में भ्रम नहीं रहा।

कला और आलोचना की बात जाने दीजिये। सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टि से भी ऐसा सम्बन्ध गर्हित है, इसपर सभी देश एकमत नहीं पाये जाते। इङ्गलिश चैनेल के इस पार, इङ्गलैण्ड में, यह सम्बन्ध कानून से दण्डनीय है, लेकिन उस पार, फ्रान्स में, कानून ऐसे स्वेच्छा-सम्बन्ध में हस्तक्षेप करना अनावश्यक मानता है। फिर कला में ऐसे निर्णयात्मक सङ्कुचित दृष्टिकोण का क्या स्थान हो सकता है?

दृष्टिकोण :

यहाँ अब यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस विषय में हिन्दुस्तान की स्थिति पश्चिम के देशों की अपेक्षा अच्छी ही है। यहाँ कला को नासमझ आलोचकों का ही सामना करना पड़ता है, इसे गनीमत समझिये। वहाँ नासमझ आलोचकों के साथ, और कभी-कभी स्वतन्त्र रूप से, अन्धा कानून भी चोट कर बैठता है।

इसी बीसवीं शताब्दी में, आचार-व्यवहार की स्वतन्त्रता के लिए मशहूर और बदनाम इङ्गलैण्ड और अमेरिका में, कला के क्षेत्र में नैतिकता के नाम पर दस्तन्दाजी सचमुच बहुत ही हास्यास्पद बात है। उग्रजी की उपर्युक्त पुस्तक सरकार द्वारा कभी सचमुच जब्त हुई थी या नहीं, मुझे नहीं मालूम। इस पुस्तक को लेकर उग्रजी की मुठभेड़ कानून से हुई हो— ऐसा कभी सुना या पढ़ा नहीं। अगर ऐसा हुआ भी हो, तो वह शायद हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपने ढंग की पहली और आखिरी घटना हो! हिन्दुस्तान की पुलिस की प्रशंसा में कोई एक शब्द भी कहने के लिए तैयार नहीं मिलता। लेकिन एक इस बात में वह इङ्गलैण्ड और अमेरिका की पुलिस से कहीं अधिक उदार है, प्रशंसनीय है। कारण भले यह हो कि यहाँ की पुलिस के लिए यह सब काला अक्षर भैंस बराबर है, उसे कांग्रेस, रेल उलटने के सन्देह और ऊपरी आमदनी के जरिये की खोज से छुट्टी ही 'कहाँ ऐसी वाहियात बातों के लिए ? कारण जो कुछ भी हो, परिणाम तो अच्छा ही है।

इस देश में कानून कला के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता, इसे बहुत बड़ी बात समझनी चाहिये। सांस्कृतिक स्वतन्त्रता के लिए पश्चिम के देशों के कलाकार और वैज्ञानिक बहुत

दिनों से आन्दोलन कर रहे हैं और उन्हें अबतक पूर्ण सफलता नहीं मिली है। जिस देश में राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभाव हो, वहाँ ऐसी दिमागी आजादी न्यामत है।

लेकिन मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि इस स्वतन्त्रता का महत्त्व हमारे बुद्धिजीवी साहित्यिक, समालोचक और पत्रकार नहीं समझ पाये हैं। आपने ऐसी बहुत आलोचनाएँ पढ़ी होंगी, जिनमें अपने क्रोध की निष्फलता पर खीझ कर लेखक अपनी यहीं अभिलाषा प्रकट करता है कि ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन और प्रचार पर सरकारी नियन्त्रण लगाना आवश्यक है। हाल में ही कराची की पुलिस, कई स्टालों पर छापा मारकर, सैकड़ों अश्लील पुस्तकें उठा ले गयी थी और बम्बई के एक अँगरेजी मासिक पत्र ने बड़े गर्व से इसे अपने अश्लील-साहित्यिक-विरोधी प्रचार का फल घोषित किया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये साहित्य-सुधारक सदुद्देश्य से प्रेरित होकर ही ऐसा कर रहे हैं। लेकिन जिस सरकारी नियन्त्रण की माँग पेश की जा रही है, अगर वह बदकिस्मती से लागू हो जाय, तो भारतीय भाषाओं में पनपते हुए साहित्य का कितना बड़ा अपकार होगा, इसका अनुमान करना भी कठिन है।

हिन्दुस्तान में ज्यों-ज्यों शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार होता जायगा, पुस्तकों की माँग अधिकाधिक बढ़ती ही जायगी। इसका लाभ नीच मनोवृत्तिवाले लेखक या प्रकाशक अवश्य ही उठाना चाहेंगे। लेकिन इसका उपाय यह नहीं कि साहित्य की सुरुचि और कल्याणकारिता का निर्णय और निर्धारण सरकार करे। जिस दिन ऐसा होगा, साहित्य का बहुत बड़ा अहित हो जायगा।

कराची की उल्लिखित साहित्यिक झाड़बुहारू (क्लीन-अप) के क्या कुपरिणाम हो सकते हैं इस पर विचार करना आवश्यक है। आजकल किसी बुक-स्टाल पर चले जाइये, सैकड़ों हजारों सस्ती, कुरुचिपूर्ण पुस्तकें सजायी मिलेंगी, जिनसे, मैं मानता हूँ, किसी को लाभ नहीं पहुँच सकता। कामशास्त्र पर सैकड़ों ऐसी पुस्तकें मिलेंगी जो नाममात्र के लिये ही वैज्ञानिक हैं। कहानी-उपन्यास के नाम पर कागज के कूड़े का अंबार ही लगा मिलेगा। लेकिन यदि आप ध्यान से देखेंगे, तो कामशास्त्र की पुस्तकों में, बहुत सम्भव है, यदि कोई उच्च कोटि की प्रामाणिक पुस्तक न भी मिले तो मेरी स्टोप्स की किताबें तो जरूर ही दिखाई पड़ेंगी। कथा-कहानियों के बीच से बोकैचियो की डिकामेरन या बालजक की ड्रॉल स्टोरीज झाँकती मिल ही जायँगी। और सच तो यह है कि एक साधारण पाठक जिस लोभ से कॉलेज-गर्ल की आत्मकथा या कोई ऐसी पुस्तक पढ़ता है, उसकी पूर्त्ति इस पुस्तक से कहीं ज्यादा विश्व-साहित्य के इन महान् कलाकारों की रचनाएँ पढ़ने से हो सकती है। लेकिन फिर भी वे कौन-से ऐसे गुण हैं, जिनके कारण बोकैचियो और बालजक की रचनाओं के साथ उल्लिखित प्रकार की पुस्तकों की कोई तुलना नहीं हो सकती? इन गुणों का निर्णय एक पुलिस दारोगा या कोई बड़ा अफसर भी कर लेगा, क्या यह सम्भव है, स्वीकार्य है?

जिस खतरे की ओर मेरा सङ्केत है, उसका अनुमान पश्चिम के देशों के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। इङ्गलैण्ड और अमेरिका में मनोविज्ञान और कामशास्त्र की हैवलॉक एलिस, मेरी स्टोप्स, क्राफ्ट एबिंग प्रभृति उच्च कोटि के विद्वानों

की लिखी पुस्तकें जब्त हो चुकी हैं, यद्यपि प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के संघटित विरोध के बाद नियन्त्रण की आज्ञा वापस ले ली गयी है। बर्नर्ड शा जैसे सुधारवादी के एकाधिक नाटकों का अभिनय, नैतिकता के नाम पर, सेन्सर के द्वारा रोका जा चुका है। वाल्ट ह्विटमैन के लीव्ज ऑफ ग्रास, स्विनबर्न के पोएम्स एण्ड बैलड्स, बोकेचियो के डिकामेरन, अरेबियन नाइट्स, पेप्स की डायरी, डी० एच० लारेंस के पैंसीज, रेनबो, लेडी चैटर्लीज लवर, जेम्स ज्वायस के युलिसीज, फ्रैंक हैरिस के माइ लाइफ एण्ड लव्ज, रैडक्लिफ के द वेल ऑफ लोन्लिनेस आदि पचासों उच्च कोटि के कलापूर्ण ग्रन्थों पर प्रतिबन्ध लगाकर अँगरेजी और अमेरिकन सरकारों ने अपनी घोर संकीर्णता और अगुणग्राहकता का परिचय दिया है। उपर्युक्त पुस्तकों में आधे से अधिक ऐसे नाम हैं, जो विश्व-साहित्य में अमर हैं।

आधुनिक यूरप से गल्प का इतिहास मुख्यतः डी० एच० लारेन्स और जेम्स ज्वायस का ही इतिहास है। जिन कलाकारों की चर्चा के बिना आधुनिक कथा-साहित्य का अध्ययन-अध्यापन असम्भव था, उनकी रचनाओं पर बहुत दिनों तक इङ्गलैण्ड और अमेरिका में कानूनी रोक लगी हुई थी। अपनी सिद्ध पुस्तक पोर्नोग्राफी एंड आब्सिनिटी में लारेन्स ने बड़ी कटुता के साथ उन अधिकारियों की आलोचना की है, जिन्होंने उनकी एक चित्र-प्रदर्शनी पर छापा मारकर, उनके कई चित्र जब्त कर लिये थे।

इन देशों में कई बार कलाकारों और वैज्ञानिकों को बौद्धिक स्वतन्त्रता के लिए कानून के विरोध में मोर्चा लेना पड़ा है, असुविधाएँ, अपमान और आर्थिक हानि का सामना

करना पड़ा है। नियन्त्रण का कार्य विवेकशील व्यक्तियों के हाथ भी पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं हो सकता। कला के क्षेत्र में दो और दो चार वाला निर्णय सम्भव नहीं। इसलिए कल्याण इसीमें है कि सरकार इस क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे।

भारतीय भाषाओं के साहित्य अत्यन्त तीव्रता के साथ प्रगति कर रहे हैं। उन पर जो नियन्त्रण आलोचकों तथा स्वयं पाठकों के ही द्वारा लगा रहता है, वही पर्याप्त है। यह तो किसी हालत में स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता कि उनकी प्रगति में सरकारी नियन्त्रण के रूप में रोड़ा अटकाया जाय।

यथार्थवाद और आधुनिक हिन्दी कविता ×

"साहित्य-दर्शन" ※ के असाधारण विद्वान् लेखक की प्रतिभा उनकी विद्वत्ता को 'गाथा' में बहुत पीछे छोड़ गयी है। यह बहुत कम लोगों के बारे में कहा जा सकता है। विद्वत्ता और प्रतिभा का संयोग साधारणतः नहीं देखा जाता। ऐसा हुआ भी तो विद्वत्ता आसानी से प्रतिभा को जकड़ लेती है।

प्रतिभा अकेली भी बड़ी चीज है। विद्वत्ता गल कर भी जले नहीं और निखर आए तो वह बहुत बड़ी चीज है।

रवीन्द्रनाथ में रेखाएँ खींचने की प्रतिभा थी। केवल प्रतिभा ही थी, उन्होंने और उनके आलोचकों ने भी यही कहा और माना है। इस दिशा में उनके प्रयोग निस्सन्देह प्रशंसनीय हैं। पर यह मानना पड़ेगा कि उनके प्रयोग पिकासो के

× जानकीवल्लभजी की 'गाथा' की भूमिका।

※ जानकी वल्लभजी के निबन्धों का संग्रह।

प्रयोगों की महत्ता का दावा नहीं कर सकते। रवीन्द्र की चित्रकला के विरुद्ध यहाँ के या विदेश के आलोचकों ने कुछ नहीं कहा। पर उनके पहले और उनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोगों के लिए, पिकासो को अधिकारी आलोचकों की उपेक्षा और कटूक्तियाँ सहनी पड़ी थीं। उनके रेखाङ्कनों के 'अतिशय सचेष्ट सरलीकरण' से क्षुब्ध होकर, एक कला-विशेषज्ञ ने लिखा था कि उनसे अधिक सार्थक लकीरें तो स्कूल का छात्र भी खींच ले सकता था। पर जब उन्हें यह बतलाया गया कि पिकासो प्रारम्भ में वर्षों तक नियमित रूप से एक प्रसिद्ध और परिपाटी के अनुसार चित्र बनानेवाले उस्ताद के तत्त्वावधान में रेखाङ्कन सीख चुका था, तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही।

पिकासो ने चित्रकला का व्याकरण सीख कर उसका अतिक्रमण किया था। रवीन्द्र को चित्रकला की कभी नियमित शिक्षा नहीं मिली थी; इसलिए उनकी चित्रकला मीठी तुतलाहट-भर रह गयी। जानकीवल्लभजी की प्रतिभा शास्त्रीय रूढ़ियों का यथेष्ट उपयोग कर लेने के बाद मानवता की ओर आकृष्ट हुई है।

पर 'गाथा' की चित्रकलात्मकता की पिकासो की कला से कोई तुलना नहीं है। इसमें साहित्य का अभिव्यञ्जनामूलक त्रिकोणवाद नहीं मिलेगा। 'गाथा' के काव्य-चित्रों में प्रभाववाद के परवर्त्ती (Post-impressionist) वॉन गाग के चित्रों की-सी यथार्थता और मनुष्यता की प्रेरणा है। 'गाथा' का कवि 'The Prison Yard' के चित्रकार की तरह कहता सुनाई पड़ता है—"I want to paint humanity, humanity and again humanity."—मैं मानवता को

चित्रित करना चाहता हूँ, मानवता को, और फिर-फिर मानवता को ही।

काव्य में इस मानवीय यथार्थता को पहले के महाप्राण कलाकारों ने भी निर्भीकता के साथ अपनाया है। आधुनिक काल के कुछ उदाहरणों को छोड़ कर, समस्त हिन्दी साहित्य को, और संस्कृत के भी एक दीर्घ काल को पार कर, पैशाची प्राकृत में लिखी और आज सदा के लिए खो गयी 'बृहत्कथा' में इसका विस्मयजनक विकास हुआ था। यह तो उसके संस्कृत के संक्षिप्त संस्करण सोमदेव-रचित 'कथासरित्सागर' को देखकर भी कहा जा सकता है।

यह आश्चर्य का विषय है कि अँगरेजी काव्य में भी इस प्रकार की यथार्थता का दर्शन उसके आदि महाकवि चासर में ही होता है। 'कैन्टरबरी टेल्स' के अनेक निरावरण वर्णन केवल अपनी मनुष्यता के कारण ही अश्लील होने के बदले विराट् हो गए हैं। फिर, युगों के बाद, ऑस्कर वाइल्ड का 'द बैलड ऑफ रीडिङ्ग जेल' इस दृष्टि से एक सर्वथा अप्रत्याशित, पर श्रेष्ठ रचना है। इस चमत्कार-परिष्कारवादी साहित्यिक के जीवन में यदि एक अमार्जनीय प्रभाववाली दुर्घटना न घटती, तो उसकी यह सर्वोत्तम काव्य-कृति लिखी ही न जाती। वॉन गाग ने जो काम रंगों और रेखाओं के माध्यम से किया है, वही वाइल्ड ने शब्दों के सहारे।

विक्टोरियन युग की अवास्तविकता की प्रतिक्रिया के रूप में किप्लिङ्ग ने, जहाँ तक विषय का प्रश्न है, बहुत ही स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया था। जैसा कि हाल में ही प्रकाशित अपनी पुस्तक में एक अमेरिकन आलोचक ने दिखलाया है,

किप्लिङ की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है अद्यावधि त्याज्य विषयों को काव्य के योग्य समझना। बैरकों में रहनेवाले सिपाही, जहाज और एञ्जिन, ये सभी किप्लिङ की कविता के विषय हुए। उसने केवल यही नहीं प्रमाणित किया कि विषय की साधारणता के बावजूद कविता उत्कृष्ट हो सकती है, इससे ज्यादा यह भी कि सिपाही पर लिखी गई कविता में उसकी असंस्कृत बोली के शब्द और मुहावरे भी त्याज्य नहीं हैं। किप्लिङ अँगरेजी का बहुत उत्कृष्ट कवि नहीं है, इसका कारण कुछ और ही है।

आधुनिक युग के कवियों ने इस बात का प्रश्न किया है कि वे उदात्त को ही नहीं, साधारण को भी अपनी कविता में ग्रहण करें। इसके पहले के कवियों ने भी कठिन पाया था, आज के भी पाते हैं। पारस लोहे को छूता है और स्वयं भी लोहा हो जाता है !

'न्यू सिग्नेचर्स' के संप्रति प्रसिद्ध कवि डब्लू० एच० ऑडेन, सेसिल डे लेविस, स्टेफेन स्पेंडर आदि साधारण को अपनी कविता के विषय के लिए लेते हैं और अपनी समाजवादी दार्शनिकता से उसका ऊर्ध्वपातन करते हैं, जैसे, ऑडेन 'स्पेन' में, डे लेविस 'द नबारा' में। कथासरित्सागर, केन्टरबरी टेल्स और 'द बैलड ऑफ रीडिङ जेल' में भी साधारण का ऊर्ध्वपातन हुआ है, पर उनके कवियों को प्रेरणा मिली है मनुष्य की सनातन दुर्बलताओं के प्रति सजग सहानुभूति से ही।

जानकीवल्लभजी को भी मनुष्य के किसी वर्ग-विशेष के ही नहीं, प्रत्युत मनुष्य मात्र के अभाव, पीड़ा या दुर्बलता से सजग और संयत सहानुभूति है।

यह सहानुभूति उस नासमझ माँ की नहीं, जो बीमार बच्चे की तकलीफ कम करने के लिए कुपथ्य दे देती है, न आँसू बहानेवाले स्त्रैण भावुक की है। इस सहानुभूति में, जरूरत पड़ने पर, कड़वी दवा और नश्तर का भी उपयोग हुआ है ; 'गाथा' के व्यंग्य जिन्हें ऐसे मालूम हों, उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उनका सदुद्देश्य भी है।

हिन्दी की 'स्ट्राबेरी और क्रीम' कविता की चलती परम्परा में ऐसे प्रयोगों का स्वागत होना चाहिए। आज हिन्दी के पाठकों और आलोचकों का एक उल्लेखनीय वर्ग उस बौद्धिक धरातल को पहुँच गया है, जहाँ वह सस्ती शोहरत पाने के लिए चित्रित अश्लीलता और मर्मज्ञ कलाकार की स्पष्टोक्ति और यथार्थता के विभेद को ग्रहण कर सकता है।

अश्लीलता विषय में नहीं, अभिव्यञ्जना-पद्धति में छिपी रहती है। शारीरिक नग्नता को साधारणतः अश्लील माना जाता है—इसलिए स्वभावतः उसके चित्रण-वर्णन को भी—पर शारीरिक नग्नता की, विश्व की दो श्रेष्ठ प्राचीन सभ्यताओं—भारतवर्ष और ग्रीस—की कलाओं में, सर्वजनप्रशंसित अभिव्यञ्जना पायी जाती है। इसका यह अर्थ नहीं कि दुनिया के तमाम अखबारों में विज्ञापित 'फ्रेंच तस्वीरें' ऊपर के न्याय से अश्लील होने के सिवा और कुछ हैं।

उग्र के नीतिवादी आलोचकों द्वारा परम निन्दित और शायद इसीलिए परम लोकप्रिय पुस्तक-विशेष का विषय अश्लील नहीं। वाइल्ड के 'द पिक्चर ऑव डोरियन ग्रे' की बात छोड़िए, विश्व के श्रेष्ठ गल्प-लेखकों में अग्रगण्य मार्सेल प्रू ने इस विषय का सांगोपांग विश्लेषण किया है और किसी भी विवेकशील आलोचक ने उस पर अश्लीलता का दोषारोपण नहीं किया। पर यह ठीक

ही है कि विषय के अश्लील न होने पर भी उग्र की पुस्तक निस्सन्देह अश्लील हो गयी है। कारण दो हैं, जिनका उल्लेख आलोचकों ने नहीं किया है। उन्होंने जिनका उल्लेख किया है, वे सभी कारण गलत हैं। जैसा कि मैंने अन्यत्र भी कहा है, उग्र का उद्देश्य कला की सृष्टि नहीं, एक नैतिक विकृति के खिलाफ जिहाद करना है। यह उद्देश्य तो स्तुत्य है, पर इसका साधन गलत नहीं होना चाहिए, और फिर इतनी जायकेदार शैली की गल्प! आलोचक गलत हैं कि उग्र का विषय अश्लील है। उग्र भी सही नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने नैतिक उन्नयन के लिए गल्प का अनुपयुक्त उपाय चुना है। उन्हें समाजविज्ञान के योग्य गम्भीर शैली के निबन्धों का आश्रय लेना चाहिए था, जैसा कि हैवलॉक एलिस, मेरी स्टोप्स आदि ने किया है।

अगर कलाकार और डॉक्टर अपनी ओर से निर्लिप्त हैं, तो अपने-अपने ढंग से मनुष्य के शरीर या मन का चित्रण-परीक्षण करने का उन्हें पूरा अधिकार है। पाठकों को तो होना ही चाहिए। जैनेन्द्र ने अपने बारे में कहीं लिखा था कि किशोरावस्था में थोड़े दिनों तक स्त्रीमात्र के चित्र को देखकर उनका चित्त अन्यथावृत्ति हो जाया करता था। लन्दन के एक सार्वजनिक स्थान में रखी गई एप्स्टाइन-निर्मित एक मूर्त्ति पर नैतिकता के हिमायतियों द्वारा सड़े अण्डे और पुराने जूते फेंके जाते रहे—और कहनेवाले कहते हैं कि अपना रोष प्रकट करने के इस तरीके की मदद से उनलोगों को फायदा यह होता था कि वे काफी नजदीक से उस मूर्त्ति की बारीकियों को देख पाते थे। सो पाठक चाहे तो ग्रीक या भारतीय मूर्त्तियों में, महान् कलाकारों के चित्रों में, कालिदास, हर्ष, तुलसी, सूर, चासर प्रभृति की रचनाओं में अश्लीलता ढूँढ़े, उसे कौन रोकेगा? रोकेगा कोई नहीं, पर इन कृतियों की

तह तक पहुँचकर कूड़ा-करकट बटोरने के सिलसिले में वह अनिवार्य रूप से इतना संस्कृत हो जायगा, उसकी दृष्टि इतनी निर्मल हो जायगी कि उसे रत्न ही हाथ लगेंगे। इसीलिए उत्कृष्ट साहित्य को इस प्रेरणा से, ऐसे अनधिकारी पाठक पढ़ेंगे, इसका डर नहीं है। रेलवे बुक-स्टाल से 'कनफेशन सीरीज' की पुस्तकों को खरीदकर पढ़नेवाले पाठक जेम्स ज्वायस की 'यूलिसिस' और लारेंस की 'लेडी चैटर्लीज लवर' मुफ्त पाकर भी पढ़ने की क्षमता नहीं रखते, यह निर्विवाद है। यदि उनमें से विरला कोई इन पुस्तकों को पढ़ सके, तो उसकी इतनी शिक्षा अनायास ही हो जायगी कि वह सभी बातों को, योजना में, अपनी सही जगह पर ही, देखे।

मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि हिन्दी का एक पाठकवर्ग पर्याप्त चैतन्य है। पाश्चात्य साहित्य से परिचित तथा हिन्दी के प्रचलित काव्य से अप्रभावित इस वर्ग के पाठकों को निराला की 'कुकुरमुत्ता' और अज्ञेय की 'चिन्ता' जैसी दो-चार रचनाओं को दिखलाने के बाद उनकी बहुत हद तक बदली राय को देखने का मुझे सन्तोष प्राप्त हुआ है। उनमें से जिन्होंने 'गाथा' को पढ़ा या सुना, उन्हें हिन्दी कविता की शक्ति और विकास पर आश्चर्य हुआ।

जानकीवल्लभजी की लेखनी के स्पर्श से कविता के लिए त्याज्य विषय ही नहीं, कितने ही अभिशप्त शब्द भी उद्धार पा गए हैं। जेम्स ज्वायस, डी० एच० लारेन्स और जॉन डॉस पैसस ने इस सम्बन्ध में जो अपने गद्य में किया, वह जानकीवल्लभजी ने अपने पद्य में किया है। बहुत पहले भी ऐसी शक्ति स्तुत्य मानी जाती थी :—

प्रौढि-प्रकर्षेण पुराणरीति-व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम्।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि वन्द्यानि नारीकुचमण्डलानि ॥

भाषा चरित्रों के अनुकूल परिष्कृत, चलती हुई या अनगढ़ है, पर सर्वत्र स्वाभाविक है। जहाँ कवि को अपनी ओर से कहना है, वहाँ पाण्डित्य और लालित्य पर उसके समान अधिकार के स्पष्ट प्रमाण हैं।

पद्य-कौशल की, हिन्दी के लिए, एक उल्लेखनीय विशेषता है। आज से बहुत पहले 'निराला' ने 'सरोज' में प्रकाशित अपने एक लेख में 'प्रसाद' को हिन्दी में पहले-पहल पंक्ति के मध्य पूर्ण विराम को उपयोग में ले आने का श्रेय दिया था। आज भी हिन्दी के दो-एक ही कवि सामान्य रूप से इसका उपयोग करते हैं। स्वयं प्रसाद भी पीछे इस पर ध्यान नहीं देते थे। 'कामायनी' जैसे प्रबन्ध-काव्य में इसकी अनुपस्थिति इसका पर्याप्त प्रमाण है। वस्तुतः 'निराला' ने ही इसका महत्त्व समझा है। पंक्ति की समाप्ति के साथ ही अनिवार्य रूप से भाव-विशेष की समाप्ति कर देना छन्द के 'चरणों' में आत्मसमर्पण कर देना है। इस 'एंड स्टाप्ड' पद्य को अँगरेजी में युगविशेष के कवियों द्वारा प्रश्रय मिला था, आलोचकों द्वारा प्रशंसा कभी नहीं। उन्होंने इसकी संकीर्णता और कृत्रिमता का अविलम्ब अनुभव कर लिया था। पर हिन्दी का बहुत दोष भी नहीं है। उसकी समृद्ध परम्परा की यह एक नियमित और अवाञ्छनीय विशेषता रही है। संस्कृत के छन्दों में, भाव समाप्त हों या नहीं, द्वितीय चरण के बाद विराम रहता था और प्राचीन हिन्दी के दोहा, चौपाई, घनाक्षरी, सवैया आदि में तो संस्कृत के अन्वय की कठिनता के न रह जाने से नियमित विराम के साथ भाव-समाप्ति अनिवार्य थी ही। यही बात बगल में पनपने वाली उर्दू के बारे में भी थी और है। और दूसरी नवीनताओं को ग्रहण करने पर भी उसकी नज्म अभी तक इस

बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकी है। बँगला पद्य ने बहुत पहले इस कृत्रिमता का त्याग कर दिया था। हिन्दी में 'निराला' के बाद जानकीवल्लभजी ने ही इसकी निःसन्दिग्ध आवश्यकता समझी है। यह हिन्दी के पद्य-कौशल की प्रौढ़ता का द्योतक है।

समासतः 'गाथा' हिन्दी-काव्य के सर्वांगीण और अविच्छिन्न विकास का प्रतीक है।

रामचन्द्र शुक्ल : समालोचक और निबन्धकार

पं० अमरनाथ झा ने साहसपूर्ण स्पष्टवादिता के साथ, बहुत दिन नहीं हुए, कहा था कि हमें न केवल भारतीय अँगरेजी की अपरिहार्य वास्तविकता को ही अकुण्ठित भाव से स्वीकार कर लेना चाहिए, प्रत्युत समालोचना के भारतीय आदर्शों का भी सम्यक् उपयोग करना चाहिए। कोनराड पोलिश होते हुए भी अँगरेजी का उल्लेखनीय गल्प-लेखक माना जाता है, तथापि उसके उदार अँगरेज समालोचकों को भी अन्त में यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि उसकी प्राणपूर्ण, स्वाभाविक और उत्तम गद्य-शैली कहीं-कहीं खटक ही जाती है, यद्यपि, सम्भव है, यही अपूर्णता उसके आकर्षण के कारणों में एक हो। इसलिए स्वीकार किया जाय या नहीं, हमारी अँगरेजी तो भारतीय होने के सिवा और कुछ होने से रही। पर समालोचना के सिद्धान्त एकदम इतनी सूक्ष्म वस्तु नहीं; विदेशी होने पर भी उसका अनुसरण बहुत कठिन नहीं होता।

यों तो प्रारम्भ में लक्षण ग्रन्थों की जड़ीभूत आलोचना के युग से हिन्दी के आलोचक मुक्त हुए, तो उन्होंने एक बारगी अपना सन्तुलन ही खो दिया, और उनमें अब भी बहुत-से लड़खड़ाते दीख पड़ेंगे, क्योंकि साहित्यालोचन के पाश्चात्य आदर्शों का उनका ज्ञान सर्वथा सन्दिग्ध था और है। ऐसी हालत में झा साहब का समालोचना के आदर्शों में समन्वय की ओर इशारा करना समीचीन था। शुक्लजी की यह विशिष्टता है कि उन्होंने कुशलतापूर्वक बहुत पहले इस समन्वय को अपना लिया था। जब और समालोचकों के पैर हिल गये थे, तब इसी के स्वतः विकसित बल पर, सबसे अलग और ऊपर शुक्लजी की प्रज्ञा की तुला सँभली थी। अध्ययन और अध्यवसाय के लिए मिश्रबन्धु अकृपण प्रशंसा के पात्र हैं, पर उनके समालोचना के आदर्श परम्परा की जड़ता से मूल्यहीन थे; इसलिए वे हिन्दी-साहित्य के इतिवृत्त लेखक भर ही हो सके। दूसरी ओर ऐसे बालखिल्य पत्रकारों की भी कमी न थी, जिन्हें न तो अपने साहित्य-ग्रन्थों का ही ज्ञान था, न पाश्चात्य आलोचना-पद्धति से परिचय। समालोचक की पदवी के लिए शुक्लजी का कोई प्रतियोगी नहीं हो सकता था। विकासोन्मुख हिन्दी में कालोपरान्त और भी योग्य समालोचक हुए, पर जिस उच्च आसन पर शुक्लजी का अधिकार था वह उनकी मृत्यु के बाद ही खाली हुआ।

समकालीन साहित्य को प्राचीन आदर्शों से निर्णीत कर मूल्यहीन घोषित करना संकीर्णता का द्योतक था; प्राचीन साहित्य को समकालीन आदर्शों की दृष्टि से हास्यास्पद समझ लेना छिछले विवेक का काम। जिनका परिचय केवल भारतीय साहित्य से ही नहीं था, और फिर भी, व्यापक होने के बावजूद, जिनकी रुचि इधर से मुड़ी नहीं थी, ऐसे लोगों को इन आदर्शों

में किसी एक से ही तृप्ति नहीं हो सकती थी। उत्साह में पद्माकर को कवि मानने से भी कम लोगों ने युग के प्रारम्भ में अस्वीकार नहीं किया होगा। पर कला को देशकाल से अनियन्त्रित माननेवाले, उस समय भी, अँगरेजी के रोमांटिक कवियों की दुनिया के दृश्य के उद्घाटन से मुग्ध होकर भी, पद्माकर को सुकवि मानने में हीनता नहीं अनुभव करते होंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। इसके एक उदाहरण, और शायद एक ही ज्ञात उदाहरण शुक्लजी हैं, जिन्होंने रीतिकाल के कलाकारों के विषय में अपनी नयी पहुँच दिखालायी थी। इसमें आज कोई विशिष्टता नहीं दीख पड़ती तो केवल इसलिए कि उनकी व्याख्या सिद्धान्त रूप में सर्वमान्य हो गयी है। टैगोर की तरह उनकी प्रतिभा अपने क्षेत्र में खतरा बन गयी थी, यद्यपि इसमें उनका कोई दोष नहीं था। जैसे बँगला काव्य नयी शाखा में प्रसार पाने के लिये छटपटा कर रह जाता है, उसी तरह हिन्दी का समालोचना-क्षेत्र शुक्लजी के व्यक्तित्व से आच्छादित था। ऐसे व्यक्तित्वों का युग में एक-दो बार ही आविर्भाव हुआ करता है; साहित्य ऐसे दुर्लभ खतरों का स्वागत करता है। क्योंकि उसकी शाखाएँ भले ही न पनपें, किन्तु उसका तना पुष्टतर हो जाता है।

पर जब हिन्दी समालोचना के मूल्यों में एक बार फिर परिवर्त्तन होंगे, और नहीं होंगे ऐसा कौन कह सकता है, तो क्या शुक्लजी का महत्त्व युग-विशेष के प्रारम्भकर्त्ता के रूप में ही उल्लेखनीय रह जायगा? ऐसा होता अवश्य यदि कभी-कभी शुक्लजी की समालोचना में ऐसे गुण स्फुटित न हो उठते, जिनसे उसका स्थायी साहित्य में ऊर्ध्वपातन हो जाता है; और शुक्लजी की समालोचना की शैली में पेटर की तरह ऐसे साहित्यिक गुण पर्याप्त मात्रा में हैं।

फिर भी, समालोचक होने के बावजूद, आदमी अपूर्ण रह ही जाता है। समन्वय व्यवहार में उतना सरल नहीं होता जितना सिद्धान्त में। साहित्य के प्राचीन रूप के मूल्याङ्कन में नवीन आदर्शों की स्वीकृति से शुक्लजी ने विशेषता प्राप्त की थी। पर उन्होंने जहाँ उसके अभिनव रूप के विषय में प्राचीन दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं की, वहाँ नवीन आदर्शों के साथ आवश्यक सहानुभूति भी नहीं दिखलायी। फलतः केवल अभिनेय गुण की अपेक्षाकृत अधिकता से हरिकृष्ण प्रेमी, प्रसाद से भी अधिक प्रशंसनीय नाटककार माने गये। अभिनेय गुण के महत्त्व के पक्ष और विपक्ष में समान रूप से प्रबल मत-परम्पराएँ चलती रही हैं और इस आधार पर नाट्यकारों की तुलना नहीं की जा सकती। कुल मिलाकर प्रसाद यद्यपि उत्कृष्ट नाट्यकार नहीं थे, लेकिन प्रेमी क्या साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय नाट्यकार भी कहे जा सकते हैं? एतत्-सम्बन्धी किसी पुस्तक में 'निराला' पर एक पृष्ठ भी पर्याप्त से अधिक माना जा सकता है। पर उस दशा में पन्त पर बीस पृष्ठ आनुपातिक नहीं जँचेंगे। स्थितप्रज्ञ आचार्य अतीत के अध्ययन के लिए अधिकारी होते हैं; लड़खड़ाते वर्त्तमान की गति को दौड़ने और गिरने वाले ही जान सकते हैं, समझ सकते हैं।

एक निबन्धकार के रूप में उनकी अपूर्णता तो हिन्दी की ही एतद्विषयक अपूर्णता है और इसलिये यहाँ उसका उल्लेख अनावश्यक नहीं प्रतीत होता। कहना न होगा कि यहाँ हमारा तात्पर्य उनके समालोचनात्मक निबन्धों से न होकर साहित्यिक निबन्धों से है। जहाँ तक हिन्दी का सवाल है, उनके ऐसे निबन्ध भी उच्चकोटि के माने जा सकते हैं।

किन्तु व्यापक दृष्टि से उन्हें निबन्ध मानना ही कठिन है। आधुनिक निबन्ध (सैमुएल स्माइल्स के लेख नहीं) को लेखक के व्यक्तित्व की दुर्बलताओं का मधुर 'हास्योत्पादक' संयत चित्रण (Elegant nonsense) माना गया है। दुर्भाग्यवश हिन्दी में साहित्य के इस रूप की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया, यद्यपि हमारे यहाँ एकाधिक लेखक चाहें तो उत्तम निबन्ध लिख सकते हैं। अँगरेजी में जो परम्परा लैंब से चली वह आधुनिक काल में ल्यूकस, बेलॉक, बिअरह्माम प्रभृति के हाथों में साहित्य का प्रशंसनीय, स्थायी और विशिष्ट रूप धारण कर चुकी है। हमारे यहाँ भी जैनेन्द्र, प्रकाश-चन्द्रगुप्त, माचवे, भुवनेश्वर प्रभृति यदि अपनी कुछ बौद्धिक जिह्मताओं को छोड़ सकें, तो वे इस दिशा में यथेष्ट सफलता प्राप्त कर सकते हैं। कविता की तरह शुक्लजी का स्पष्टतः यह क्षेत्र नहीं था! हिन्दी के पेटर का हिन्दी का स्माइल्स भी होना विशेषता नहीं रखता। शुक्लजी समालोचक के रूप में ही सदैव धुरिकीर्त्तनीय रहेंगे।

प्रेमचन्द और जैनेन्द्र

[कहानीकार के रूप में]

प्रेमचन्द पैदाइशी किस्सागो थे—एक गुणाढ्य, सोमदेव, अलिफलैलाकार की गहराई और विस्तार लिए हुए, एक बोकेच्चियो, चासर, बालजक की अशेष उर्वर प्रतिभावाले गल्पकार। मध्ययुग में कला के अच्छे-बुरे, अज्ञ-विज्ञ प्रतिपालक नव्वाबों और सामन्तों के यहाँ भी उनकी वैसी ही शोहरत और माँग रहती जैसी इस युग में उच्च और निम्न कोटि के भारतीय—केवल हिन्दी के ही नहीं—पाठकों में थी। जैनेन्द्र की पहुँच पाठकों के वर्ग-विशेष तक ही सीमित है। मध्ययुग में उन्होंने किस्सागोई का पेशा अख्तियार किया होता, तो उनके भाग्य से ईर्ष्या करने का कारण किसी को होता, यह खयाल के बाहर की बात है।

प्रेमचन्द की कहानियों की जड़ें किस्सागोई धरती में मजबूती से गड़ी हुई हैं, इन्हें सींचने के लिए पानी कहीं से

आया हो, इन्हें पल्लवित-पुष्पित करनेवाली हवा तो दूर-दूर से आयी होगी ही। जैनेन्द्र की गल्पें भी 'हाट हाउस प्लांट' नहीं हैं; वे दरख्त की शाख से लटक कर धरती में जगह करनेवाली जड़ें हैं। प्रेमचन्द के लिए सब कुछ अपना ही है, जैनेन्द्र को जो कुछ है, अपना है। एक बहिर्निष्ठ (Extrovert) हैं और दूसरे अन्तर्निष्ठ (Introvert)

प्रेमचन्द की महत्ता इस एक बात में निहित है कि उन्होंने दिलचस्प और लोकप्रिय किस्सा-कहानी एवं साहित्यिक तथा कलापूर्ण गल्प के बीच की झूठी खाई को मिटा दिया था। तथाकथित उच्चकोटि की साहित्यिक गल्पों में शैली की विशिष्टता और चरित्र तथा भाव (Mood) के कुशल अङ्कन के बावजूद, साहित्यिकता की दृष्टि से, हमें किस्से-कहानियों के घटना-वैचित्र्य, प्रवाह, नाटकीयता और मनुष्यता के अभाव खटकते हैं। प्रेमचन्द ने साहित्य के इस उच्च और निम्नवर्ग के वैषम्य को अपनी कृतियों से दूर कर दिया था। उनकी रचनाओं में दोनों वर्गों की विशेषताओं का सफल समन्वय हुआ है।

पाठकों से आलोचक जो भी उम्मीद रखते हों, लेकिन हकीकत तो यही है कि बहुत-से पाठक कहानियाँ कहानी पढ़ने के लिए ही पढ़ते हैं, उनकी दिलचस्पी कथावस्तु तक ही सीमित रहती है; ऐसे पाठकों को प्रेमचन्द से पूरी तशफ्फी हासिल होती है। दूसरी ओर, जो लोग कहानियों में साहित्यिक गहराई और मनोवैज्ञानिक बारीकियों की अपेक्षा रखते हैं, उन्हें भी प्रेमचन्द से कोई शिकायत नहीं हो सकती। यह एक बहुत बड़ी बात है, जो बहुत कम लोगों के बारे में कही जा सकती है।

लेकिन प्रसिद्धि और लोकप्रियता से या उनके अभाव से ही गुणों का अन्तिम मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। हरएक प्रसिद्ध और लोकप्रिय रचना, तुलसीकृत रामायण के न्याय से, उत्कृष्ट ही नहीं होती, होती तो एडगर वैलेस, ओपेनहिम, देवकीनन्दन खत्री, राधेश्याम कथावाचक की कृतियों के बारे में हम क्या कहेंगे? दुर्बोध या अस्पष्ट रचनाएँ भी उच्च कला-कृतियाँ नहीं होती हैं, नहीं तो हर कोई टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें खींच कर पिकासो या गगनेन्द्रनाथ टैगोर बन जाता, दुरूह पद्य लिख कर एजरा पाउण्ड, टी० एस० एलियट या 'निराला' की पंक्ति में जा बैठता। प्रेमचन्द महान् थे, इसलिए नहीं कि इतने लोकप्रिय थे; लोकप्रिय थे, इसलिए, शायद, महान् नहीं थे, यह कहना और भी असङ्गत है। उसी तरह जैनेन्द्र अपेक्षाकृत कम लोकप्रिय हैं, इसलिए इसी अनुपात में कम बड़े, यह कहना गलत है; कम लोकप्रिय हैं, इसलिए उच्चतर गल्पकार हैं, यह कहना तो बिलकुल बेमानी होगा, गरचे यह तर्क कुछ कलाकारों के बारे में उपस्थित किया ही जाता है, जैनेन्द्र के बारे में किया जाता हो या नहीं।

प्रेमचन्द और जैनेन्द्र दोनों ही हिन्दी के ऐसे कथाकार हैं, जैसे हुए नहीं, हैं भी नहीं, होंगे तो जरूर ही, होने ही चाहिए। पद्धति में, प्रभाव में, परिणाम में इनका अन्तर हमने देखा। इनके पीछे काम करनेवाले कारण क्या हो सकते हैं?

प्रेमचन्द ने सभी तरह की कहानियाँ लिखी हैं—वातावरण-प्रधान, चरित्र-प्रधान, मनोविज्ञान-प्रधान, सबसे अधिक घटना-प्रधान। जैसा कि हम कह आये हैं, हर हालत

में वे मूलतः सीधी-सादी कहानी कहनेवाले किस्सागो ही हैं और यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। किस्सागो की कहानी जब कला से सँवर जाती है, तो उससे अधिक सजीव, सर्वाङ्गपूर्ण रचना की कल्पना नहीं की जा सकती।

प्रेमचन्द, मोपासाँ की तरह, घटना के सहारे ही मनस्थिति का उद्घाटन करते हैं। हिन्दी के पाठकों-आलोचकों की यह भ्रान्त धारणा-सी है कि मोपासाँ मनोवैज्ञानिक गल्पकार था। ग्रेट शार्ट स्टोरीज ऑफ मोपासाँ (न्यूयार्क) की भूमिका में वैलेस ब्राकवे ने मोपासाँ के बारे में जो बातें कही हैं, प्रेमचन्द के बारे में भी अक्षरशः सत्य हैं : "Compared with the complex psychological studies that often pass as short stories to-day, Maupassant's tales are almost naive. They do not explore the psyche, which, indeed, had scarcely been born when he was writing his best things··· They are plot-stories primarily, transparently simple in architecture...The story is always the thing."

अनावश्यक होते हुए भी, यहाँ हम कह दें कि प्रेमचन्द और मोपासाँ की यह तुलना दोनों के गल्प-कौशल (technique) तक ही सीमित है। गल्प-कौशल के सिलसिले में भी, जहाँ तक कहानियों की परिणति का प्रश्न है, प्रेमचन्द और मोपासाँ में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। प्रेमचन्द अपनी कहानियों के अन्त को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए, उन्हें कृत्रिम रीति से शायद ही कभी मोड़ते थे। इसके विपरीत, मोपासाँ की कहानियों के बारे में ब्राकवे कहता है— "They are stories with a candid work-up to

what is some-times nothing more than a trick-ending" इन दोनों कलाकारों में जो सैद्धान्तिक विभेद है, वह तो स्पष्ट ही है। मोपासाँ की कहानियाँ आदर्शों से कोई सरोकार नहीं रखतीं, जब कि प्रेमचन्द की कहानियों में उन्हीं की अन्तर्धारा रहती है। लेकिन इसकी चर्चा हमें आगे करनी है।

मोपासाँ या प्रेमचन्द की तुलना में जैनेन्द्र घटना को बहुत कम महत्त्व देते हैं। उनकी कहानियाँ बहुधा उलझनपूर्ण मनोवैज्ञानिक अध्ययन (Complex psychological studies) मात्र होती हैं। वे चेखव या कैथराइन मैन्सफील्ड की तरह घटनाओं का उपयोग इसीलिए करते हैं कि कब कहाँ मौका मिले और पात्रों के मन के किसी कोने का वातायन खोल दें।

प्रेमचन्द जीवन या मनुष्यता के किसी दूरवर्त्ती, अदृश्य अंश को, जैसे दूरबीन से साफ-साफ देखकर, हमारे लिए भी प्रत्यभिज्ञेय बना देते हैं। जैनेन्द्र 'जिन्दगी की कतरन' ('स्लाइस ऑफ लाइफ') को खुर्दबीन के नीचे रखकर, वैज्ञानिक की तरह, उसके अणुओं को परमाणुओं में विश्लिष्ट कर, तह तक पहुँच जाना चाहते हैं। प्रेमचन्द की पद्धति पाठकों के लिए हर बार सुलझी, सुगम और इसलिए आकर्षक होती है। जैनेन्द्र की अक्सर पेचीली, उलझन पैदा करने-वाली और फिर भी आकर्षक होती है।

छोटी कहानी के बारे में किसी ने कहा है, शायद ड्राइडेन ने, कि यह कविता और चित्रकला का समन्वय है। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की कला के तारतम्य को समझने के लिए हमें चित्रालोचन की भाषा से सहायता मिल सकती है। हाल में

'टाइम्स' के 'लिटरेरी सप्लिमेंट' में एक चिट्ठी छपी थी, इस शिकायत को लेकर कि साहित्यालोचन के बहुत-से पारिभाषिक शब्द चित्रकला के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने लगे हैं और चित्रकला सम्बन्धी शब्द साहित्यालोचन में। बात सही है, शिकायत गलत, बेवजह; कम-से-कम हम इसके कायल नहीं।

अस्तु, प्रेमचन्द के चरित्रों में, कथावस्तु में, वर्णनों में गति रहती है। वे सैकड़ों खण्ड-चित्रों की सहायता से एक ऐसा चलचित्रात्मक प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं, जो जैनेन्द्र के कौशल से सर्वथा भिन्न है। जैनेन्द्र एक शिलीभूत क्षण (Frozen moment) को उसके बारीक-से-बारीक पहलू के साथ चित्रित कर देने में अपना सानी नहीं रखते। प्रेमचन्द के चित्र सर्वाङ्गपूर्ण होते हैं, उनमें सादे, पर गहरे, रंगों का यथेष्ट समावेश रहता है और उनका अङ्कन सधी और निर्भीक उँगलियों से परिचालित तूलिका के द्वारा होता है। जैनेन्द्र के चित्रों में अतिशय सरलीकरण का प्रयास रहता है, वे कम-से-कम रेखाओं से काम चलाना चाहते हैं। उनके अधिकांश चित्र छाया-चित्र (Silhouette) होते हैं। उनके चित्र बेडौल हो सकते हैं, पर उनमें छाया-प्रकाश (Chiaroscuro) का सामञ्जस्य रहता है कि जैसे उनका बाहर-भीतर कुछ भी आवृत न रह गया हो। जैनेन्द्र प्रभाववादी कलाकार हैं, प्रेमचन्द यथार्थवादी।

अपनी उत्कृष्ट रचनाओं में एकाधिक दृष्टियों से प्रेमचन्द और जैनेन्द्र एक-दूसरे के बहुत पास तक चले आते हैं। प्रेमचन्द की उत्कृष्ट कला-कृतियों में जीवन-दर्शन का समावेश आप ही हो जाता है। उनकी साधारण कहानियों में कोई

आदर्श जैसे ऊपर-से चिपका दिया गया रहता है। जैनेन्द्र विचारक हैं, बड़े सुलझे हुए विचारक हैं, इसलिए गल्प भी लिख गए हैं। उनके विचार ही गल्प का रूप धारण कर लेते हैं, कभी-कभी तो इस खूबी के साथ कि मालूम नहीं होता कि वे प्रधानतः विचारक ही हैं। लेकिन कभी-कभी विचार अधिक विचार रह जाते हैं, अपना विपर्यय चाहते हुए भी गल्प कम।

प्रेमचन्द की कहानियाँ, प्रारम्भिक कहानियों को छोड़कर, और जैनेन्द्र की कहानियाँ, बाद की कहानियों को छोड़कर, किसी नीति का निर्देश नहीं करतीं, न किसी आदर्श की अवतारणा। वे तो अपनी सम्पूर्णता में नीति, उपदेश, आदर्श हैं ही, जैसा कि चेस्टर्टन एक निबन्ध में टाल्सटाय की रचनाओं के बारे में कहता है और जो कि सभी उत्कृष्ट कलाकृतियों के बारे में सच है भी—"The bad fable has moral, while the good fable is a moral."

आज की छोटी कहानी

आधुनिक युग को बहुधा, और अकारण ही नहीं, छिछलापन और शीघ्रता की वर्णसङ्कर सन्तान कहकर पुकारा गया है। साहित्य का आश्चर्यजनक प्रसार अनेक दोषों का कारण हो गया है। शिक्षित जनता की संख्या में वृद्धि के अनुपात से ही बुद्धि का विकास भी सम्भव नहीं था, फलतः साहित्य स्खलित हुआ। इसका तात्पर्य यही है कि साहित्य के व्यापारियों को खुल कर खेलने का मौका मिल गया। यह समझना कि आज उत्कृष्ट कलाकार मुर्दे हो गए हैं अक्षम्य धृष्टता होगी। उच्च श्रेणी की कला का उत्पादन निरन्तर होता रहा है। उसकी आकृति में महत्त्वपूर्ण विपर्यय हो सकते हैं, किन्तु उसके सृजन का सातत्य अविच्छिन्न रह जाता है।

आज लम्बे और धीरे-धीरे विकास पानेवाले, ठोस और विस्तृत आकार-प्रकार के उपन्यासों की सफलता की आशा

नहीं की जा सकती *; इस युग को महाकाव्यों की चाह नहीं दीख पड़ती। यह झटके का युग है, छोटे कद के आदमियों का छोटे वाक्यों का, छोटे गीतों का और छोटी कहानियों का !

इसमें निराश होने की कोई बात नहीं; यद्यपि इसके कई पहलुओं से आदमी उद्विग्न जरूर होता है। साहित्य की शक्ति ऐसे खतरों का सामना करने के लिए पर्याप्त होती है; हम प्रत्यय के साथ यहाँ तक कह सकते हैं कि साहित्य ऐसे खतरों से लाभ ही उठाता है। कलाकार के कण्ठ का हलाहल विश्व के लिए कल्याणकर हो सकता है; साधारण मनुष्य के लिए जो अभिशाप होता है, उसे वह वरदान की तरह सर-आँखों पर ले लेने की क्षमता रखता है। जिस तरह सुकवि छन्द इत्यादि के प्रतिबन्धों को अपनी कला के उत्कर्ष-हेतु में परिणत कर लेता है, उसी तरह आज का गल्पकार जनता की छोटी चीजों की माँग पूरी करने का रास्ता तै करते-करते बहुत ऊँची मञ्जिल तक पहुँच सकता है। सिनेमा का आविष्कार शुरू में बौद्धिक नाबालिगों के मनोरञ्जन का ही साधन था; किन्तु कम-से-कम फ्रान्स में वह एक प्रशंसनीय और स्वतन्त्र कला का वाहन हो चला; छोटी कहानियों का उद्भव अपेक्षाकृत साधु ही था, यद्यपि इसकी भी व्यापारिक सफलता समान कारणों से ही हुई है और इसलिये पूर्ण विश्वास के साथ

* अपवाद स्वरूप कुछ वृहत्काय उपन्यास आज भी छपते ही हैं। अभी-अभी सम्वाद-पत्रों में हमने पढ़ा है कि इस शताब्दी का सबसे बड़ा अँगरेजी उपन्यास कई जिल्दों में छपकर बाजार में आ गया है।

यह आशा की जा सकती है कि सिनेमा की तरह ही यह भी नवीनता और स्थायित्व प्राप्त करने में समर्थ होगी। हम चाहें या न चाहें, छोटी कहानियां साहित्य में टिक गयी हैं; आज का आदमी रेल या मोटर से भी सन्तुष्ट नहीं है; उसे हवाई जहाजों की दर में सस्तेपन की प्रतीक्षा है। यदि जनता को कहानियों की सस्ती मासिक पत्रिकाओं के निकृष्ट साहित्य से दूर रखना है, उसकी रुचि को दूषित न होने देना अभिप्रेत है, तो कला के इस लघु, पर असुन्दर नहीं, रूप को स्वीकार करना ही होगा। इसके लिए केवल पाठकों का ही नहीं, कलाकारों और समालोचकों का भी आन्तरिक सहयोग अपेक्षित है; यह नौसिखियों का ही प्रधान-क्षेत्र नहीं बना रह सकता।

यह परिभाषाओं का युग नहीं रह गया। परिभाषाओं का मध्य युग में सर्वत्र ही ऐसा अतिशय प्रयोग हुआ, कि उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही है। यों भी कला को शब्दों के हरम में सङ्कुचित करना श्लाघ्य नहीं। संस्कृत और ब्रजभाषा के साहित्य-लक्षण के ग्रन्थों के कारण भारतीय आलोचना-पद्धति कैसी जड़ता को प्राप्त हो गयी थी, यह कहना व्यर्थ मालूम होता है, यद्यपि बहुत लोगों ने इस पर इस दृष्टिकोण से शायद ही विचार किया है। यूरोपीय साहित्य में भी परिभाषाओं की यातना के अनेक उदाहरण मिलेंगे। नाटक सम्बन्धी अरस्तू के 'युनिटीज' के सिद्धान्तों के अन्धानुसरण से साहित्य के इस अङ्ग की कितनी क्षति हुई थी, यह पाश्चात्य साहित्य का साधारण विद्यार्थी भी जानता है। किन्तु ऐसे परिभाषा-प्रेम के विरुद्ध होनेवाली प्रतिक्रिया का अन्त अनिश्चय में हो, यह भी स्पृहणीय

नहीं है। अधिक प्रकाश से आँखों में चकाचौंध आ जाती है; इससे बचने के लिये प्रकाश की अवहेलना नहीं की जा सकती। छोटी कहानियों के आकार का सम्यक् विश्लेषण अभी तक हुआ नहीं दीख पड़ता। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि कहानियों का कोई विशेष आकार होता ही नहीं। वेल्स ने 'द कण्ट्री ऑफ द ब्लाइण्ड' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"हमलोगों को अपने समालोचकों से कहानियों के बारे में बहुत कुछ सुनने को मिलता था। गल्प-लेखक की हैसियत से हम लोगों पर स्वेच्छया निश्चित आदर्शों से निर्णय देने की कोशिश की जाती थी। ऐसा मालूम होता था, जैसे समालोचकों की समझ में कहानी की भी सोनिट की तरह परिभाषा हो सकती थी। वे यह नहीं समझते थे कि कहानी तो बस वही है, जो तकरीबन बीस मिनटों में साहस और कल्पना के साथ कही जाय।"

वेल्स के तत्कालीन समालोचकों ने जो कुछ भी समझा और कहा हो, उनकी कोई निश्चित रूप से निर्णीत परिभाषा उपलब्ध नहीं; खुद वेल्स की परिभाषा के सहारे भी हम कहीं नहीं पहुँच सकते। उसी प्रबन्ध में अन्यत्र वेल्स कहता है—"छोटी कहानी एक गल्प है जिसे एक घण्टे से कम में ही पढ़ा जा सके।" उसीमें आगे चल कर फिर वह कहता है—"कहानी भयङ्कर या करुण, सुन्दर या चमत्कारपूर्ण हो सकती है—आवश्यक केवल इतना ही है कि उसके पढ़ने में पन्द्रह पचास मिनट लगें।" वेल्स की बात मान लें, तो सेक्स्टन ब्लेक सीरीज का हिन्दी संस्करण और शान्तिप्रिय द्विवेदी की आलोचनाएँ, प्रकाशचन्द्र

गुप्त के शब्द-चित्र और दिनेशनन्दिनी चोरड्या के गद्यकाव्य सभी कहानियाँ ही कहलाएँगे। फलतः परिभाषा की जड़ता में बाँधने के प्रयत्न से दूर रहकर भी इस सम्बन्ध में कुछ निश्चयपूर्वक कह सकना असमीचीन नहीं होगा। जैनेन्द्र और कैथराइन मैन्सफील्ड, मोपासाँ और शरत्, पिरांदेलो और चेखव (नामों के पूर्वापरत्व में कोई महत्त्व नहीं) को पढ़कर यह कहना कि छोटी कहानियाँ, लघु उपन्यासों, शब्द-चित्रों आदि से आकार-प्रकार में पृथक् अस्तित्व नहीं रखतीं, अनुचित मालूम पड़ता है।

यह जो कहानियों और उपन्यासों के सम्बन्ध की बात का उल्लेख किया गया है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। छोटी कहानियों और उपन्यासों में कोई भी सम्बन्ध है, यह सर्वथा संशयात्मक है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो कोई भी सम्बन्ध मानने का कारण नहीं दीखता। जिस तरह आजकल का मुक्तक (गीत) काव्य प्राचीन महाकाव्य की शाखा नहीं है, उसी तरह आज की छोटी कहानी भी अपेक्षाकृत पुराने उपन्यास की शाखा नहीं कही जा सकती।

हाँ, जहाँ तक दोनों के शिल्प (Technipue) का सम्बन्ध है, उनमें कई समान बातें मिल सकती हैं, यद्यपि कहानी की एक स्थितिस्थापकता पूर्ण रूप-रेखा के आधान के लिए, इन दोनों के भेदों का ही अध्ययन लाभप्रद होगा।

अस्तु, स्कॉट ने एक-दो अच्छी छोटी कहानियाँ जरूर लिखी थीं; किन्तु इन प्रारम्भिक काल के औपन्यासिकों का छोटी कहानियों के उद्भव में कोई उल्लेखनीय हाथ न था; उनके युग में इसका विशिष्ट रूप था ही नहीं।

वस्तुतः इसका इतिहास अमेरिका में पो और हाथर्न के साथ शुरू होता है। पो को उत्कट भयानक रस से प्रेम था, यहाँ तक कि अपनी अतिशयता के कारण वह ग्राम्य हो जाता था; उसके बारे में यह भी कहा जा सकता है कि उसकी गल्प का अधिकांश जितना कल्पना पूर्ण नहीं था, उतना स्नायु-विकारपूर्ण था; फिर उसकी शैली भी अनेक दृष्टियों से सदोष थी। ये बातें मान ली जाने पर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अँगरेजी भाषा का वही पहला उल्लेखनीय लेखक था, जिसने गद्य में गल्प उसी भाव से लिखा, जिससे कवि गीत या प्रबन्ध-लेखक प्रबन्ध लिखता है, अर्थात् अपनी मनोवृत्ति और भावनाओं के अभिव्यक्तीकरण के उद्देश्य से। अच्छा या बुरा, वह हृदय से कवि था; वह अन्तर्दर्शन की प्रेरणा से लिखता था; चरित्र-चित्रण की शक्ति उसमें उल्लेखनीय मात्रा में न थी; उसकी सभी अच्छी गल्पें भावनात्मक विचार-विशेष की प्रतीक हैं, वे एक प्रभावोत्पादक मनोवैज्ञानिक वातावरण की सृष्टि करती हैं—रस, जैसा कहा जा चुका है, मुख्यतः भयानक या बीभत्स रहता है। यह बात इस तरह हमारे विषय के लिए प्रासङ्गिक है कि यद्यपि साहित्य के इस रूप के बहुत-से दूसरे निर्माता पुरुषों और नारियों के चरित्र-चित्रण में पो से कहीं अधिक उत्कर्ष प्राप्त कर सके, फिर भी पो में पाया जानेवाला विकास और वातावरण की अन्विति छोटी कहानी की एक प्रत्यभिज्ञेय विशेषता है। यह अपरिहार्य अन्विति कथावस्तु की प्रकृति में ही निहित हो सकती है, या इसे माध्यम द्वारा वर्णन की रीति से आरोपित किया जा सकता है, जिसका महत्त्व इसमें है

कि इसकी सहायता से स्थान और काल में अविच्छिन्नता होने पर भी सुगठित अन्विति सम्भव हो सकती है, और साथ-ही-साथ एक नवीन व्यक्तित्व के अस्तित्व से घटनाओं में रंगीनी भी आ जाती है।

तो, चरित्र-निर्माण, जिसका उपन्यास में सर्वाधिक महत्त्व है, (अर्वाचीन प्रयोगात्मक कृतियों को छोड़ कर कोई बीस साल पहले तक की सभी औपन्यासिक रचनाओं के बारे में यह सत्य है; जेम्स ज्वॉयस, वर्जीनिया वुल्फ प्रभृति प्रयोगवादियों ने 'चेतना के प्रवाह' को चरित्र-चित्रण की गद्दी पर आसीन कर दिखाया है) कहानी में भी अपना महत्त्व रखता ही है, लेकिन उसका स्थान पहला नहीं है। इसीलिए कहानी के छोटे दायरे में पर्याप्त कुशलतापूर्वक भी किया गया चरित्र-निर्माण पाठकों को सन्तोष नहीं दे पाता। यदि पाठक चरित्रों में दिलचस्पी रखते हैं, और यदि कहानी केवल चरित्रों पर ही निर्भर है, तो उनसे इतना शीघ्र सम्बन्ध-विच्छेद होना अप्रीतिकर होता है। अतः कहानी में हम इससे कुछ और अधिक चाहते हैं; हम एक ऐसी विशिष्टता की अपेक्षा रखते हैं, जो इसमें आमूल परिव्याप्त हो, जिसका साधारणतः विश्लेषण न किया जा सके, जो केवल इसी रूप में पाठकों के प्रति प्रेषणीय हो। हम ठीक यही माँग उपन्यास से नहीं करते। उसमें तो यही पर्याप्त है कि वर्णन में प्राण हो, उसके चरित्र जीवन पूर्ण हों, और उनका संसार अपने प्रति सच्चा हो। आज के प्रयोगात्मक पाश्चात्य उपन्यास में, (पाश्चात्य जान-बूझ कर कहा गया है, क्योंकि कला के जिन रूपों को हिन्दी ने पश्चिम से ही लिया है, उनमें, खेद है, वह बहुत पिछड़ी हुई दीख

पड़ती है; उपन्यास-क्षेत्र में शायद सबसे अधिक) जैसा हम पहले उल्लेख कर चुके हैं, केवल 'चेतना के प्रवाह' का यथातथातः उद्घाटन भी पर्याप्त समझा गया है, पर ठीक यही बात प्रयोगात्मक कहानी में भी सम्भव नहीं दीखती। इस युग के महान् प्रयोगशील कलाकार जेम्स ज्वॉयस ने (जिनकी हाल में ही मृत्यु हुई है) अपने उपन्यासों, विशेषतः 'युलिसिस' और 'फनिगन्स वेक' में इसका युगान्तरकारी दृष्टान्त उपस्थित किया है; पर इन उपन्यासों के चरित्रों से अन्तर्बद्ध 'डब्लिनर्स' की छोटी कहानियों में इसका तादृश महत्त्वपूर्ण उपयोग नहीं कर सके हैं। इसका व्यापक कारण यही मालूम होता है, कि कहानी प्रवाह नहीं, बुलबुला है; वह एक प्रकाशपूर्ण क्षण है; वह समष्टि से नहीं, व्यष्टि से सम्बन्ध रखती है। यदि हम वस्तुतः कहानियों की खरी समीक्षा करें, तो हम देखेंगे कि उनका अस्तित्व प्रकाशपूर्ण और प्रकाशकारी क्षण पर निर्भर रहता है—चाहे यह क्षण शृङ्गार का हो या बीभत्स का, रौद्र का हो या करुण का। इस सारभूत क्षण के पूर्व जो कुछ भी होता है, वह भूमिका और बाद में जो कुछ भी होता है, वह उपसंहार—भूमिका तैयारी होती है, उपसंहार विराम। यह क्षण बहुधा अनुद्घाटित भी रह कर अपना काम करता है; यही पाठकों के प्रति कलाकार की देन है; इसे ही हम याद रखते हैं। कहानी के चरित्र भी कभी-कभी हमारी स्मृति में खटकते रह सकते हैं, और रहते ही हैं; लेकिन स्मृति के लिए उनका अपना मूल्य नहीं है, है तो इसलिए कि उन्होंने 'क्षण' के निर्माण में सहायता दी है।

दृष्टिकोण :

इन दृष्टियों से विचार करने के बाद हम कह सकते हैं कि वर्णन, चरित्र-चित्रण या चेतना के प्रवाह के उद्घाटन में कहानी उपन्यास की प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकती। कहानी की दुनिया छोटी-सी होती है, उसके प्राणी छोटे-छोटे। हीरे की कनी की तरह, हम प्रत्येक कहानी में लेखक के जीवन के विषय में अध्ययन के किसी एक पहलू का आभास पाते हैं; रस-विशेष का, किसी कवित्वपूर्ण भावना का, किसी एकांकी नाटिका का, सूक्ष्म, निर्दोष प्रतिबिम्ब-दर्शन करते हैं। उपन्यास एक ऐसा वातायन है, जिससे हम रास्ते पर बहते हुए जीवन के, या मस्तिष्क में बहती हुई चेतना के प्रवाह का अवलोकन करते हैं; छोटी कहानी एक सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्र है, जिसके नीचे मानवीय अस्तित्व के रूपक के दृश्य खुलते हैं।

साहित्य के जिस रूप को पो और हाथर्न ने सिरजा—गुणाढ्य और सोमदेव की देन ऐतिहासिकों का विषय है, क्योंकि यह निर्विवाद है कि छोटी कहानी को हमने आधुनिक युग में सीधे पश्चिम से ग्रहण किया है—और जिस रूसी साहित्य में चेखव, फ्रेंच में मोपासाँ और अँगरेज़ी में कैथेराइन मैन्सफील्ड ने सँवारकर उत्कृष्ट, स्वतन्त्र कला का गौरव प्रदान किया, वह आज सभी श्रेणियों के गल्प-लेखकों और पाठकों में लोकप्रिय है। जैसा कि हम प्रारम्भ में ही कह आये हैं, छोटी कहानी की यह लोकप्रियता घण्टे में सौ माइल और उससे भी अधिक तेज रफ्तार से भागनेवाली आधुनिक सभ्यता की साहित्यिक प्रतिक्रिया है।

युग की माँग साधारण कोटि की रचनाओं से ही पूरी होती रही है। लेकिन इस माँग की ओर ध्यान देने के लिए, कलाकार भी बाध्य हुये हैं। इसका श्रेयस्कर परिणाम यह

हुआ है कि छोटी कहानी केवल पूर्ति ही नहीं रह गयी है, वह अब कला कृति होने का भी दावा कर सकती है।

छोटी कहानी की सूक्ष्म कला के बारे में इससे अधिक कहना व्यर्थ है, जिसे अपने अनुभव से चेखव ने यों व्यक्त किया है—"लेखक को मामूली चीजों के बारे में ही लिखना चाहिये, किस तरह पीटर सेमिओनोविश् ने मेरी इवानोवना के साथ विवाह किया। सिर्फ इतना ही।" एक कहानीकार को, चेखव और मैन्सफील्ड की तरह, आये दिन की बातों, अनुभवों और घटनाओं को छोटे पैमाने पर, '*मिनिएचर*' में, झलका कर ऊँचे दर्जे की कारीगरी दिखलाने का प्रयत्न करना चाहिए। पाठक के दिमाग पर ऐसे खण्ड-चित्रण की वह वाञ्छनीय प्रतिक्रिया होती है, जिसे पो ने 'पूर्णता का प्रभाव' कहा है। वह महसूस करता है कि उसका अनुभव पूरा हो गया।

हिन्दी का रङ्गमञ्च

हिन्दी में नाटकों का लिखा जाना प्रयोगशाला के न रहते हुए भी विज्ञान की पढ़ाई की तरह बेमानी है। इन पंक्तियों के लेखक ने जैनेन्द्रजी से एक बार पूछा था, "आपने आज तक सिर्फ एक ही एकांकी लिखा है ('हंस' के एकांकी-अंक में, 'टकराहट'), यही इस बात का प्रमाण है कि आप उच्चकोटि के नाटक लिख सकते हैं। फिर भी आपने इस ओर ध्यान नहीं दिया, इसके क्या कारण हैं?" जैनेन्द्रजी ने उस समय कुछ इस तरह का उत्तर दिया था, "हंस के लिए जो एकांकी लिखा, वह तो इसीलिए कि उसे, समझ लीजिए, लिखना ही था। मैं नहीं जानता हिन्दी में नाटक क्यों लिखे जायँ। हिन्दी का अपना रङ्गमञ्च नहीं। फिर हिन्दी के नाटक के क्या मानी! अगर हिन्दी में नाटक लिखे जाते हैं, तो शायद इसलिए कि नाटक भी साहित्य का एक प्रमुख रूप है और हिन्दी को भी साहित्य के इस रूप को पाना चाहिए ही।

लेकिन नाटक की सार्थकता यह नहीं। इसलिए, 'टकराहट' में देखियेगा, एक कहानी है जिसे कथोपकथन के सहारे ही अभिव्यक्त किया गया है। नाटकीय निर्देश नाममात्र के लिए समाविष्ट कर दिये गये हैं। नाटकीय निर्देश कैसा, जब नाटक का अभिनय, स्कूल-कालेज के अमेचर्स को छोड़ दें तो, होता ही नहीं!'

आधुनिक अँगरेजी के दार्शनिक औपन्यासिक, अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के साहित्यिक पुरस्कारों के विजेता चार्ल्स मार्गन ने भी अपने प्रख्यात नाटक 'द फ्लैशिंङ्ग स्ट्रीम' की भूमिका में सूत्र रूप से कहा है :—

"A play is useless that does not teach its audience."

हिन्दी भाषा-भाषियों का अपना रङ्गमञ्च नहीं है। इस बात की ओर इधर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। यों तो चलचित्रों के घातक प्रभाव के कारण रङ्गमञ्च की दशा, हिन्दी-प्रदेश या हिन्दुस्तान में ही क्यों, रूस को छोड़ कर किसी भी देश में सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। फिर भी पाश्चात्य देशों में चलचित्रों के आकस्मिक आघात से मृतप्राय रङ्गमञ्च पुनरुज्जीवित हो चुका है। हमारे यहाँ भी, महाराष्ट्र और बङ्गाल में, रङ्गमञ्च की विशिष्टता को समझनेवाली जनता के एक सुसंस्कृत वर्ग के बल पर, फिर से रङ्गमञ्च का आविर्भाव हुआ है और उसका विकास भी हो रहा है। हिन्दी में, आँसू पोंछने के लिये, अब तो पारसी मञ्च भी नहीं रह गया।

इस अभाव पर आठ-आठ आँसू बहानेवाले हिन्दी के भावुक हितैषी भी विषय के साहित्यिक महत्त्व को शायद ही

समझ सके हैं। ऐसे लोग समस्या की गम्भीरता नहीं समझ सके हैं, इतना ही नहीं, इन्होंने अपनी भावुक सहानुभूति को व्यावहारिक रूप देने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया है। बम्बई और कलकत्ते में समाजवादोन्मुख प्रगतिशील साहित्यिकों ने स्थानीय रङ्गमञ्च को, बाईं ओर मोड़ कर, जीवन और वास्तविकता के निकट लाने का, सचेत और प्रबुद्ध बनाने का, स्तुत्य प्रयास किया है। हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में इस नव-जागरण की प्रतिक्रिया नहीं के बराबर हुई है। सिर्फ आगरे में कुछ युवकों ने इस दिशा में थोड़ा कार्य किया है, जिसका विवरण भी 'हंस' की एक सम्पादकीय टिप्पणी से ही मिला। जिस कारण से भी हो, उनकी यथेष्ट विज्ञप्ति नहीं हुई है। लेकिन प्रगतिशील साहित्यिक भी रङ्गमञ्च के अमोघ प्रचारात्मक महत्त्व के कारण ही, इसकी उपयोगिता के कायल होकर ही, इसके विकास के लिये सचेष्ट हुए हैं। हमारे लिये यह जान लेना जरूरी है कि रङ्गमञ्च के अभाव में हिन्दी साहित्य का एक समूचा आवश्यक अंग पक्षाघात का शिकार बना हुआ है। यह नहीं कि हिन्दी में सशक्त नाटककार नहीं हैं, लेकिन यह कि इसके बावजूद हिन्दी के सभी नाटक निष्फल हैं, क्योंकि उनका अभिनय न तो होता है, न होने की सम्भावना है। कम या ज्यादा, अगर पैरना आता है, तो उसकी सार्थकता पानी रहने पर ही है। उससे भी ज्यादा सच यह है कि पानी न हो तो पैरना किसी को क्या खाक आयेगा !

इधर हिन्दी में, शायद बर्नार्ड शा के विषय में अधकचरे ज्ञान के कारण, ऐसी धारणा-सी हो गयी थी कि रङ्गमञ्च पर अभिनय नहीं होता है तो न सही, नाटक पुस्तक के रूप में,

पढ़ने की चीज तो है। सत्य यह है कि नाटक पढ़ने की चीज भी है, पर वस्तुतः वह देखने की ही चीज है। नाटक पहले और मुख्यतः देखने के लिए ही है, बाद में पढ़ने के लिये भी। भारतीय साहित्य-शास्त्र में नाटक निर्विवाद रूप से दृश्य-काव्य माना गया है। यह निरा सिद्धान्त ही नहीं है। यदि यह व्यावहारिक वास्तविकता न होती, तो सामाजिकों की रसानुभूति की सूक्ष्म समस्या उठती ही नहीं। कालिदास और भवभूति ने, या संस्कृत के और दूसरे नाटककारों ने भी, अपने कथनानुसार ही, अपने नाटक अभिनय के लिये ही लिखे थे: यह दूसरी बात है कि संस्कृत के पिछले नाटककार कभी-कभी केवल रूढ़ि-पालन के लिए ही, नाटकों की प्रस्तावना में, अभिनय का दावा करते जान पड़ते हैं। ऐसे नाटककार वे ही हैं, जिनके नाटकों को नाटक कहना इस शब्द के साथ अन्याय करना है; उदाहरण के लिये दामोदर मिश्र का हनुमन्नाटक या महानाटक कहने के लिए ही नाटक है, वस्तुतः यह एक साधारण श्रव्य काव्य है।

तो, हिन्दी में रङ्गमञ्च क्यों न पनप सका हमें इस पर यहाँ विचार करना अभीष्ट नहीं है; विचारणीय यह है कि हमने क्यों मान-सा लिया है कि रङ्गमञ्च के अभाव में भी नाटकों की साहित्यिक सार्थकता तो है ही।

हिन्दी के वस्तुतः पहले और सच्चे मानी में अन्तिम नाटककार भारतेन्दु ने नाटक के लिए अभिनय तथा रङ्गमञ्च के महत्त्व को समझा था। छाया-रहस्य-वादी 'प्रसाद' के नाटकों में पद्य तो काव्य है ही, गद्य भी गद्य-काव्य है, न कि नाटक का प्राणभूत कथोपकथन। उनके लिए अभिनय, रङ्गमञ्च आदि शायद ऐसी स्थूल बातें रही हों, जिनके विरुद्ध उनका सूक्ष्म-दर्शन एक विद्रोह

ही था। लक्ष्मीनारायण मिश्र के समय तक नाटककार तथा आलोचक नाटक को पाठ्य, दृश्य नहीं, मानने का कारण भी, अपनी समझ से, पा चुके थे। हिन्दी के नाटककार तथा आलोचक बर्नर्ड शा के नाटकों से परिचित हुए। उन्होंने पाया कि शा के समस्यामूलक, विचारप्रधान 'ब्राडकास्ट' नाटकों में, पाठकों के लिए, विस्तृत भूमिकायें दी हुई थीं। शा के नाटक, निस्सन्देह, गम्भीर अध्ययन के योग्य साहित्यिक रचनायें थीं। ठीक इसीलिए, पूर्ण आत्मविश्वास के साथ, शा ने अपने नाटकों के प्रारम्भ में भूमिकाएँ दे रखी थीं। लेकिन लोग यह तो भूल ही गये कि नाट्य-रचना के पहले शा ने, वर्षों तक, एक पत्रकार की हैसियत से नाट्यालोचन करने के सिलसिले में, रङ्गमञ्च की बारीकियों का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। इस अनुभव के बल पर ही उन्होंने नाटक लिखे; और उनके प्रायः सभी नाटक अभिनीत भी हुए। शा अपने सिद्धान्तों का प्रचार चाहते थे। इसके लिए नाटक से अधिक प्रभावशाली माध्यम नहीं हो सकता। उन्होंने इसी लिए नाटक लिखे। शेक्सपियर के नाटक तो मूलतः रङ्गमञ्च की फर्माइश पूरी करने के लिए ही लिखे गये थे। रङ्गमञ्च के लिए तैयार किये गये 'स्क्रिप्ट' अपनी उत्कृष्टता के कारण नाटक के रूप में पढ़े भी जाते हैं, लेकिन आज भी उनका पूरा आनन्द उनके अभिनय से ही उठाया जाता है। इसके विपरीत हिन्दी में नाटक की गौण उपयोगिता को ही उसकी वास्तविक सार्थकता के रूप में स्वीकार कर लिया गया। हिन्दी के नाटककार पढ़े जाकर ही सन्तुष्ट हो गये।

इस प्रकार हिन्दी के नाटककार और नाटक आज अपनी पूर्णता प्राप्त करने में असमर्थ हैं। एक दूसरे ढङ्ग से भी नाट्य-साहित्य की क्षति हो रही है। यदि नाटकों का अभिनय हो, तो एक ओर

रङ्गमञ्च की कसौटी पर ऐसे कितने ही नाटककार खोटे साबित हो जायँगे, जो आज खुद धोखे में हैं और नाट्य-साहित्य के नाम पर पुस्तक के लिए पुस्तक लिखते चले जा रहे हैं, दूसरी ओर रङ्गमञ्च की माँग से भुवनेश्वर जैसे कितने प्रतिभाशाली नाटककारों को प्रोत्साहन मिल सकता है, जो धीरे-धीरे नाट्य-साहित्य से विमुख हो रहे हैं।

समस्या आपके सामने है, यथामति उसका विश्लेषण भी। किन्तु सर्वापेक्षा आवश्यक है उसका समाधान।

हिन्दी का अभिनव रङ्गमञ्च दूसरे देशों के नव-जाग्रत रङ्गमञ्च के उद्भव और विकास के इतिहास से बहुत लाभ उठा सकता है। हम यहाँ रूस के रङ्गमञ्च का उदाहरण देना अनावश्यक समझते हैं, क्योंकि वहाँ की नाट्यशालाएँ या रङ्गमञ्च, दूसरे देशों की तुलना में, श्रेष्ठ और सर्वाधिक विकसित होने पर भी, असामान्य रूप से अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठा कर पनप रहे हैं। रूस के दूरद्रष्टा अधिकारियों ने रङ्गमञ्च के शिक्षणात्मक तथा सांस्कृतिक महत्त्व को पूरी तरह से समझ कर उसे सब तरह का सहयोग एवं प्रोत्साहन दिया है। यह तो उसी देश में सम्भव है, जहाँ राष्ट्र के सभी उपयोगी साधनों पर राष्ट्र का ही अधिकार हो।

ऐसी स्थिति में हमें पथ-प्रदर्शन के लिए, प्रकाश के लिए, ब्रिटेन और अमेरिका की जागरूक जन-नाट्यशालाओं की ओर भी देखना होगा।

इधर एक अर्से से इङ्गलैण्ड के रङ्गमञ्च पर मुनाफाखोर व्यवसायियों का एकाधिकार हो गया था। इसके परिणामस्वरूप इङ्गलैण्ड के गौरवशाली रङ्गमञ्च में जड़ता व्याप्त हो गयी थी। अभिनय के लिए नाटक एकमात्र आर्थिक लाभ की दृष्टि से ही चुने जाते थे। यदि पर्याप्त लाभ न हुआ, लगी हुई पूँजी से सन्तोष-

जनक आय न हुई, तो नाटकों का अभिनय भी स्थगित कर दिया जाता था।

इसके लिए सर्वसाधारण की रुचि या उपेक्षा उत्तरदायी नहीं मानी जा सकती। रङ्गमञ्च का सम्पर्क जनता से तो रह ही नहीं गया था। वह अमीरों और मध्य श्रेणी के लोगों का विलास-साधन बन गया था और उन्हीं की अस्वस्थ रुचि पर उसकी सफलता-विफलता निर्भर थी। शेक्सपियर के युग में रङ्गमञ्च प्रधानतः जनता की चीज थी। इधर साधारण जनता के लिए, उत्सव और त्योहारों के अवसरों को छोड़ कर, नाट्यशालाओं में जाना तक अनावश्यक रूप से व्ययसाध्य हो गया था। फलतः उन्हें सस्ती फिल्मों या नाच-घरों के मनोरञ्जन से ही सन्तोष करना पड़ता था।

गत महायुद्ध के पहले, इङ्गलैण्ड में साधारणतः ऐसे नाटकों का ही अभिनय होता था, जिनमें अमीरों की जिन्दगी की कहानी रहती थी, चामत्कारिक कथोपकथन रहता था, यथार्थवादी वेश-भूषा और दृश्य-विधान होता था और हास्य के नाम पर सामान्य मनुष्य की खिल्ली उड़ायी जाती थी। इन नाटकों में गम्भीर समस्या यही रहती थी कि किसी अमीरजादे के लिए मध्यम श्रेणी की युवती को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करना उचित है या नहीं। रङ्गमञ्च के प्रतिपालक उच्च और मध्य वर्ग के लोग थे। यदि रङ्गमञ्च पर उनका प्रभाव न पड़ता तो यही आश्चर्य की बात होती। इस जड़तापर बर्नर्ड शा ने सफलतापूर्वक कुठाराघात किया था। शेरिफ जैसे इने-गिने कुछ और नाटककारों ने भी प्रथम महायुद्ध के बाद रङ्गमञ्च को अनुप्राणित किया था। लेकिन, जैसा कि ऊपर बताया गया है, स्थिति फिर से असन्तोषजनक हो गयी थी। इस स्थिति के विरोध में ही आज से दस बारह साल पहले कुछ उत्साही नाटक-प्रेमियों ने 'युनिटी थियेटर' की नींव

डाली और अपने हाथों ही उसके छोटे-से भवन का निर्माण किया। 'युनिटी थियेटर' ने इंगलैंड के रङ्गमञ्चों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। उसका स्पष्ट और स्वस्थ प्रभाव व्यवसायी रङ्गमञ्च पर भी पड़ा है।

लन्दन के 'वेस्ट एण्ड' (नगर का समृद्ध भाग) के व्यवसायी रङ्गमञ्च की तरह न्यूयार्क के 'ब्राडवे' (नगर का समृद्ध भाग) के मञ्च की स्थिति भी सर्वथा असन्तोषजनक थी। अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति का कोई उपाय न देख न्यूयार्क के 'ईस्ट एण्ड' (लन्दन का दरिद्र भाग), 'हार्लेम' (दरिद्र भाग) के हब्शियों ने सिर्फ छै सेंट, यानी तीन आने की पूँजी से 'अमेरिकन निग्रो-थियेटर' की स्थापना की थी। इस संस्था के सदस्यों को बिना भेद-भाव के थियेटर के सभी कामों में, झाड़ू-बुहारू करने तक में, हाथ बँटाना पड़ता था। उनकी कठोर साधना का परिणाम हुआ कि उनके अभिनय, कला की दृष्टि से ही नहीं, आर्थिक लाभ की दृष्टि से भी, आशातीत सफलता प्राप्त कर सके। उनके अभिनय की ख्याति 'ब्राडवे' में भी पहुँची और अमेरिका के प्रथम श्रेणी के नाट्यालोचकों ने 'अमेरिकन निग्रो-थियेटर' की कला की तुलना संसार-प्रसिद्ध 'मास्को थियेटर' से करके उसका अभिनन्दन किया। अब तो उनके एकाधिक अभिनय 'ब्राडवे' के रङ्गमञ्चों पर भी हुए हैं और उनसे रूढ़िग्रस्त अमेरिकन थियेटर में नयी जान आयी है।

हिन्दी भाषा-भाषियों का अपना रङ्गमञ्च नहीं है, यह खेद की बात तो है, लेकिन इससे एक लाभ भी हो सकता है। हमें रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ने में अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना पड़ेगा। 'युनिटी थियेटर' और 'अमेरिकन निग्रो-थियेटर' से प्रेरणा लेकर हम प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी नगर में ऐसे रङ्गमञ्च की स्थापना कर सकते हैं, जिसके लिये व्यवसायी रङ्गमञ्च की प्रतियोगिता

का सामना करने का प्रश्न उठता ही नहीं। इस दृष्टि से, इङ्गलण्ड और अमेरिका की अपेक्षा या महाराष्ट्र और बंगाल की तुलना में भी, हमारी स्थिति बिलकुल बुरी होने के कारण ही, कहीं अधिक उत्साहवर्धक है। हमें, संक्षेप में, सिर्फ इन बातों पर ध्यान देना होगा : बड़ी पूँजी के लिये इन्तजार करना एकदम जरूरी नहीं है; आफिस, नौकर-चाकर, पिकनिक आदि पर एक पैसा भी खर्च करना फिजूल खर्च है; पर्दे, प्रसाधन-सामग्री और तड़क-भड़क पर कम-से-कम खर्च करना; प्रवेश-शुल्क सिनेमा-भवनों के बराबर ही रखना; जनता के द्वारा जनता के लिए जनता के नाटकों का कम-खर्च-बालानशीं अभिनय प्रस्तुत करना।

अँगरेजी गल्प और भारत

कई जिल्दों में प्रकाशित और प्रामाणिक 'कैंब्रिज हिस्टरी ऑव इंगलिश लिट्रेचर' में ऐंग्लो-इण्डियन लिट्रेचर शीर्षक एक अलग अध्याय ही है। अभी हाल में एक भारतीय लेखक द्वारा इसी शीर्षक की एक पुस्तिका भी प्रकाशित हुई है, जो स्पष्टतः पूर्वोक्त ग्रन्थ के अध्याय-विशेष पर ही निर्भर है, यद्यपि अन्त में कुछ नयी सामग्री देने की कोशिश की गयी है।

'ऐंग्लो-इण्डियन लिट्रेचर, का अर्थ कैंब्रिज हिस्टरी में अँगरेजों द्वारा अंगरेजी में लिखा हुआ, भारत से किसी-न-किसी प्रकार संबद्ध साहित्य माना गया है। सुविधा के लिए भारतीयों द्वारा अँगरेजी में लिखित ऐसे साहित्य को भी इस वर्ग के अन्दर ले लिया जाता है।

यह विषय बहुत मनोरञ्जक तथा ज्ञानवर्धक है। सामग्री भी प्रचुर है। भारत में अँगरेजों के राज्य की स्थापना होने के पहले से ही यात्रा और जीवनी इत्यादि के रूप में ऐसे साहित्य का निर्माण होने लगा था। अँगरेजी राज्य की स्थापना हो जाने

के बाद अँगरेजी कविता और गल्प में भी भारत की पृष्ठभूमि बहुलता से उपयोग में लायी गयी।

इस छोटे-से निबन्ध का उद्देश्य सीमित है। इसमें भारतीय पृष्ठभूमि पर निर्मित अँगरेजों और भारतीयों के प्रसिद्ध और आधुनिक अँगरेजी उपन्यासों की संक्षिप्त समीक्षा या परिचय ही मिलेगा।

ऐसे उपन्यासों की कमी नहीं, जिनमें भारतीय पृष्ठभूमि केवल विचित्रता, नवीनता तथा पश्चिम के पाठकों के लिए रहस्यपूर्णता की दृष्टि से अपनायी गयी है। कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे गए हैं, जिनका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद की उदारता तथा भारतीयों की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक अयोग्यता और असभ्यता प्रमाणित करना है। ऐसे उपन्यासों की फिल्में भी बनी हैं जिनसे भारतीयों पर अक्षम्य आघात पहुँचा है। पर इन उपन्यासों का, कला की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है, और उनका यहाँ उल्लेख अनावश्यक है।

यहाँ सबसे पहले, पौर्वापर्य की दृष्टि से नहीं, कला की दृष्टि से, हम ई० एम० फोर्स्टर के श्रेष्ठ उपन्यास 'ए पैसेज टु इण्डिया' के बारे में कहना समीचीन समझते हैं। यह उपन्यास केवल इसी वर्ग के गल्प-साहित्य में ही नहीं, किन्तु आधुनिक अँगरेजी उपन्यासों में भी, महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी माना जाता है।

फोर्स्टर इधर बहुत दिनों से प्रायः मौन हैं। यों भी उन्होंने बहुत अधिक नहीं लिखा है। यह एक उच्च-शिक्षा-प्राप्त अधिकारी विद्वान् हैं। इन्होंने उपन्यास-कला पर ट्रिनिटी कॉलेज, कैम्ब्रिज, में विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान-माला प्रस्तुत की थी, जो 'एस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल' के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई

है और इस विषय की प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती है। उपर्युक्त उपन्यास के प्रकाशित होने के पहले इनके तीन-चार और उपन्यास प्रकाशित हुए थे। इसके बाद इनकी केवल एक महत्त्वपूर्ण आलोचना-सम्बन्धी पुस्तक छपी, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

इस उपन्यास के लिए फोर्स्टर को जेम्स टेट ब्लैक और फेमिना-वी हूरे जैसे गौरवपूर्ण पुरस्कार मिले थे। ये पुरस्कार साहित्यिक महत्त्व में नोबेल-पुरस्कार से किसी तरह कम नहीं हैं। इन पुरस्कारों का निर्णय विशुद्ध कला की दृष्टि से किया जाता है और जिस लेखक को इन्हें पाने का सौभाग्य होता है, उसके स्थायित्व को प्रायः निःसंशय ही समझना चाहिये।

इस उपन्यास के लिखने के पहले फोर्स्टर इस देश में दो वर्ष का प्रवास कर चुके थे। यों तो हमलोगों को इस पुस्तक में भी रीति-रिवाज, चरित्रों के नाम आदि की भूलें मिल जा सकती हैं, किन्तु ये उपन्यास में गौण वस्तुएँ हैं और ये त्रुटियाँ किसी प्रकार आपत्तिजनक नहीं कही जा सकतीं।

इस उपन्यास के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण को साधारण पाठक भले ही ग्रहण न कर सकें, पर उपन्यास-कला के गम्भीर आलोचक से यह असाधारण सामर्थ्य छिपी नहीं रह सकती। जीवन की ग्राम्यता और आडम्बरप्रियता के प्रति अपनी घृणा की भावना को जिस संयत शैली में फोर्स्टर ने व्यक्त किया है, वह वस्तुतः प्रशंसनीय है। इसके लिए उपन्यास की पृष्ठभूमि, चाहे वह इटली हो या कैंब्रिज या भारत, आध्यात्मिक महत्त्व रखती है, भौगोलिक नहीं। उपन्यास के आकार-प्रकार के सम्बन्ध में इनका स्वतन्त्र दृष्टिकोण है। संघर्षशील संसार में कोमल भावनाओं वाले व्यक्ति की स्थिति का चित्रण जिस क्षमता के

साथ इन्होंने किया है, उस से इनकी असाधारण प्रतिभा का परिचय मिलता है। हाँ, वर्जीनिया वुल्फ की तरह, इनके चरित्रों में भी वास्तविकता का अभाव-सा दीखता है—लेखक के मस्तिष्क के बाहर उसके चरित्रों का अस्तित्व होगा, इसका सहज विश्वास नहीं होता। वर्जीनिया वुल्फ के 'द वायेज आउट' के चरित्रों की तरह फोर्स्टर के चरित्र भी विचारों और भावनाओं में इस तरह परिष्कृत और सन्तुलित हैं कि साधारण जीवन की हवा के झोंके से उनकी 'संस्कृति की इमारत ही ढह पड़ेगी।'

फोर्स्टर यद्यपि आज भी जीवित हैं, फिर भी उनकी गणना एडवर्डियन युग में ही की जाती है, क्योंकि उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ जार्जियन युग के पहले की हैं।

फोर्स्टर के इस उपन्यास के बारे में यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि इस उपन्यास में इस देश के स्थान-विशेष के, जाति-विशेष के पात्रों के सबल और सूक्ष्म वर्णन-चित्रण हैं, फिर भी इनका अपने में कोई महत्त्व नहीं, लेखक का उनके प्रति कोई आकर्षण नहीं—उसकी कला की पूर्णता के लिए, ये सब सामग्री के सिवा और कुछ नहीं।

अँगरेजी साहित्य में आदर के साथ उल्लेख किए जानेवाले दूसरे औपन्यासिक, जिन्होंने भारतीय पृष्ठभूमि को अपनाया है, एल० एच० मायर्स हैं। पश्चिम के साधारण पाठकों के भारत से संबद्ध कौतूहल का लाभ उठाना इनका भी उद्‌देश्य नहीं। हकीकत तो यह है कि पृष्ठभूमि के प्रति ये फोर्स्टर से भी अधिक निर्लिप्त हैं।

इनका पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में अपना एक विशेष उद्‌देश्य है। 'फ्लेशिंग स्ट्रीम' (नाटक), 'पोर्ट्रेट इन ए मिरर' और

'स्पार्केनब्रोक' के प्रसिद्ध लेखक चार्ल्स मार्गन की तरह, इनकी भी गणना बुद्धिवादी औपन्यासिकों में की जाती है। इनका कहना है कि अपने जीवन-दर्शन, दृष्टिकोण को उपन्यास में सफलतापूर्वक व्यक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि इनके उपन्यासों की पृष्ठभूमि अँगरेजी पाठकों के लिए परिचित न हो। लेकिन यह भी जरूरी है कि पृष्ठभूमि सर्वथा कल्पित भी न हो, पाठकों को घटनाएँ निराधार भी मालूम न हों। इसीलिए इन्होंने भारत के मध्ययुग, मुगल-काल, को अपने कुछ उपन्यासों का पृष्ठाधार बनाया है। उनके ऐसे उपन्यास हैं 'द रूट ऐंड द फ़्लावर', 'पूल आव विष्णु'। ये उपन्यास फोर्स्टर की तरह प्रशंसा या विशेषता का दावा नहीं कर सकते, फिर भी, जिस वर्ग-विशेष में रखकर इन रचनाओं की समीक्षा की जा रही है, कम-से-कम उसमें, इन्हें बहुत ऊँचा स्थान मिलेगा।

यहाँ एडवर्ड टामसन के 'ए डे इन इण्डिया' का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। यद्यपि टामसन अँगरेजी साहित्य के आधुनिक लेखकों में विशिष्ट स्थान के अधिकारी नहीं हैं, न इनका यह उपन्यास ही साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि की रचना है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि पूर्वोक्त औपन्यासिकों की अपेक्षा इन्होंने अपने उपन्यास की पृष्ठभूमि के साथ सीधा सम्पर्क निभाया है। पृष्ठभूमि इनके लिये गौण विषय नहीं है। साथ-ही-साथ यह भी नहीं कि इन्होंने अँगरेज पाठकों की कौतूहल-वृत्ति से लाभ उठाने की चेष्टा की हो। इन्होंने, जहाँ तक हो सका है, ईमानदारी के साथ अँगरेजों और भारतीयों के पारस्परिक सम्पर्क से अनिवार्यतः उद्भूत प्रतिक्रियाओं और समस्याओं की तह में पैठकर, उन्हें समझने की चेष्टा की है।

कोई स्पष्ट समाधान उन्होंने नहीं सुझाया है। औपन्यासिक से इसकी अपेक्षा भी नहीं की जाती। लेकिन समस्या को समझ लेना भी एक तरह से समाधान ही है। इस दृष्टि से उपन्यास का निर्वाह अच्छा हुआ है। इस रचना को महान् नहीं कहा जा सकता, लेकिन यह निर्भ्रान्त है कि जिस प्रकार के उपन्यासों की चर्चा यहाँ की जा रही है, उनमें इसका भी विशिष्ट स्थान है।

यहाँ कुछ विस्तार से केवल एक और लेखक का परिचय दे देना पर्याप्त होगा। लुई ब्रामफील्ड के नाम से अँगरेजी गल्प से थोड़ी-बहुत दिलचस्पी रखनेवाले पाठक भी अवश्य परिचित होंगे। आधुनिक अँगरेजी साहित्य में इस औपन्यासिक को कोई स्थान मिलेगा, इसका कोई कारण नहीं दीखता, लेकिन इनका उपन्यास 'रेन्स केम' 'बेस्ट सेलर्स' की गिनती में तो आ ही गया था। लोकप्रिय तो यह इतना हुआ कि इटली, जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, नार्वे, स्वीडेन, डेनमार्क में इसके अनुवाद धड़ाधड़ प्रकाशित हुए और फिल्म भी तुरत ही बन गई।

ब्रामफील्ड के बारे में यह उल्लेखनीय है कि इन्होंने अपने उपन्यास की पृष्ठभूमि को यथासाध्य समीप से जानने की कोशिश की है। इन्होंने हिन्दुस्तान की दो बार यात्रा की है और कुल मिला कर यहाँ प्रायः तीन वर्ष काश्मीर से लेकर ट्रावनकोर तक भ्रमण करने में बिता चुके हैं। इनके भ्रमण में दूसरे अमरीकी यात्रियों की-सी भागाभागी नहीं थी। कहा जाता है कि बड़ौदा के किसी हिन्दुस्तानी मुहल्ले में एक भाड़े के मकान में वे कई महीने रहे थे और इस दर्म्यान, यूरोपियन लोगों से अलग रहकर, हिन्दुस्तानी तौर-तरीके, रहन-सहन आदि की

सूक्ष्म जानकारी हासिल की थी। 'रेनूस केम' में जिस राँचीपुर को घटनास्थल बनाया गया है, उसकी कल्पना का आधार बड़ोदा ही था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'रेनूस केम' की पृष्ठभूमि विश्वासोत्पादक है। दारुण निदाघ का, वर्षा के लिए आकुल प्रतीक्षा का, स्वाभाविक वर्णन हुआ है। भूकम्प के बाद काले-गोरे के भेद के मिटने और फलस्वरूप वासना के नग्न नृत्य में सब के लिप्त होने के जो चित्र मिलते हैं, उनकी स्वाभाविकता में भारतीय पाठकों को सन्देह होगा जरूर, पर कथा-प्रसङ्ग में एकाग्रता बनी रहती है।

ब्रामफील्ड ने एक दूसरा उपन्यास भी लिखा है, जिसकी घटनायें बम्बई में घटित होती हैं, लेकिन यह एक साधारण कोटि की रचना है, जो प्रसिद्ध भी नहीं हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त जर्मन साहित्यिक टामस मान ने भी, जर्मन में, प्राचीन भारत की एक पौराणिक कथा के आधार पर 'ट्रांस्पोज्ड हेड्स' लिखा है, जिसका अनुवाद हो चुका है।

इधर इस प्रकार के साधारण उपन्यास बहुत बड़ी संख्या में लिखे गये हैं। एडिसन मार्शल के 'जेवेल ऑव मलाबार', लारेंस ब्लाकमैक के 'बैंगाल फायर', टी० एफ० ओडोनल के 'द ह्वील्स ऑव रिवोल्यूशन', बैलेंटाइन क्वीगोन के 'ब्रदर ऑव डार्क', लुई डिमोल के 'द लास्ट ठग', रिचार्ड फिशर के 'इण्डियन पुलिस', माइकेल बर्ट के 'कैच' एम पलाइव, और लेमुपल सेडो के 'जरीना' में रहस्य, जासूसी कारनामे या आतङ्कवाद आदि की रोमाञ्चक घटनाओं का, साधारण रुचि की दृष्टि से, वर्णन मिलता है। इनका साहित्यिक महत्त्व नगण्य है।

एडविन रसेल के 'द डाटर ऑव द डल' और मार्गरेट फर्ग्यूसन के 'फार ऐज द ब्रिज' में साधारण रूमानियत से भरे कथानक मिलते हैं। रेनर के 'द पगोडा ट्री' तथा ज्याफ्रे ट्रीन के 'इन द लैंड ऑव मोगल' में अट्ठारहवीं शताब्दी के कलकत्ता और मुगलकालीन भारत का अंशतः ऐतिहासिक चित्रण है।

कुछ भारतीय लेखक भी अँगरेजी में उपन्यास लिख कर प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। मुल्कराज आनन्द के 'कुली', 'अनटचेबुल', 'टू लीव्ज ऐंड ए बर्ड', 'द विलेज', 'लेमेंटस् ऑव ऐन एम० ए०', साधारणतः अच्छे उपन्यास हैं। फौजी रहमान के 'गिल्डेड इण्डिया' का भी आदर हुआ है। प्रसिद्ध पत्रकार डी० एफ० कराका ने भी एक उपन्यास 'देयर ले द सिटी' लिखा है।

विदेशी भाषा के लेखकों को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनका वे पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं तथा अपने साहित्य में विविधता और नूतनता के समावेश का सफल प्रयत्न करते हैं। भारतीय लेखकों को एक तो विदेश-यात्रा का सौभाग्य प्राप्त होना कठिन है, यदि उनमें से किसी को ऐसा सुअवसर मिलता भी है, तो वे शायद ही अपने अनुभव का पूरा उपयोग कर पाते हैं। डा० धनीराम प्रेम ने दो-चार कहानियों में विदेशी पृष्ठभूमि और चरित्रों का समावेश किया है, किन्तु उन्होंने इस दिशा में कोई उल्लेखनीय और स्थायी महत्त्व का कार्य किया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। डा० सत्यनारायण ने कई रोचक पुस्तकें लिखी हैं, किन्तु वे उपन्यास न होकर भ्रमण-वृत्तान्त हैं। यों तो प्रगतिशील

रांगेय राघव ने बैठे-बैठे स्तालिनग्राद की लड़ाई पर 'अजेय खंडहर' खण्डकाव्य लिख दिया है, किन्तु हिन्दी में रूस या किसी दूसरे देश के पृष्ठाधार पर उपन्यास लिख सकने के लिए आवश्यक अनुभव शायद राहुल जी को ही है, और यदि वे चाहें तो सुन्दर गल्प लिख सकते हैं, इसके लिए प्रमाण का अभाव नहीं है।

तुर्गनेव तथा दास्ताईव्स्की

तुर्गनेव महान् औपन्यासिक था, दास्ताईव्स्की क्रान्तिकारी कलाकार। तुर्गनेव क्रान्ति का सन्देशवाहक भी था, दास्ताईव्स्की में कलाकार के गुण भी थे। दास्ताईव्स्की के उपन्यासों से सभी देशों के, सभी भाषाओं के साधारण और विवेकशील पाठक प्रभावित हुए हैं और तुर्गनेव की गणना संसार के इने-गिने कलाकारों में की जाती है। जहाँ तुर्गनेव ने, अनुभूतिप्रवण उँगलियों से, समाज-शरीर में भिड़ों के छत्ते की तरह अन्दर-ही-अन्दर फैलनेवाले फोड़े को सावधानी से पहचानते हुए, नश्तर लगाया है, वहीं दास्ताईव्स्की ने घुने हुए दरख्त पर मजबूत हाथों से कुल्हाड़ी चलायी है।

दास्ताईव्स्की रूस का सच्चा प्रतिनिधि है, तुर्गनेव समकालीन यूरोपीय संस्कृति से प्रभावित कलाकार। दास्ताईव्स्की अपने देश की जनता को चित्रित कर सार्वभौम, सार्वजनीन चित्र उपस्थित कर सका है; तुर्गनेव कला में बहिर्निष्ठता (objectiveness) के अनन्य उपासक फ्लाबेयर के सैलों (Salon)

में साँस लेते हुए भी, अपने देश का चित्र खींचने में कम सफल नहीं हुआ है। दास्ताईव्स्की ने अपने को फैलाया है, तुर्गनेव ने अपने को केन्द्रित किया है। तुर्गनेव मुस्कराकर सन्तुष्ट हो जाता है, दास्ताईव्स्की का अट्टहास आसमान को फाड़े डालता है। एक वैज्ञानिक की तरह अन्दाज से हथौड़ी की चोट करता है, दूसरा मजदूर की तरह घन चलाकर चकनाचूर कर देता है; पहला समतल भूमि की गतिमती नदी है, तो दूसरा बरसात का कूलंकष महानद।

आप इन दोनों औपन्यासिकों की रचनाओं को पहली बार पढ़िए, तो आपकी धारणा कुछ ऐसी ही होगी। शैली की भिन्नता ऐसी ही—आसमान और खाई की—है भी। लेकिन यदि आप एक बार और इन्हीं रचनाओं को पढ़ें, तो आप अपने प्रति अभ्यास नहीं करेंगे, या कम-से-कम आप अपनी तात्कालिक धारणाओं को अन्तिम निर्णय तो जरूर ही न मान बैठेंगे।

इन दोनों कलाकारों में समानताएँ क्या हैं ही नहीं? दोनों ही ने प्रथम महायुद्ध के पूर्व के यूरोपीय गल्प-साहित्य को प्रभावित किया और बहुत कुछ इसलिये भी कि वे समानधर्मा थे।

इन दोनों औपन्यासिकों ने संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना के ऊपर विजय पायी थी और समस्त यूरोप की बृहत्तर मानवता और, कैथेराइन मैन्सफील्ड के शब्द में, 'togetherness' की उद्भावना की थी। एक गम्भीरता और दृढ़ता के साथ चलने में विश्वास करता था, दूसरा तीव्रता और दृढ़ता के साथ दौड़ने में।

उन्होंने ऐसे चरित्रों की सृष्टि की जो काफी सबल होते थे या बहुत दुर्बल; जो अपने आवेगों के अनुकूल ही, कानून के मुताबिक नहीं, जीना जानते थे। करने का ढंग भले ही अलग हो, नुक्ते-निगाह एक ही है।

और अन्ततः यह, यद्यपि सबसे महत्त्व की बात यही है, कि वे अपूर्ण चरित्रों की आदमकद, पूरी-पूरी तस्वीर खींच देते हैं—ऐसे चरित्रों की जो अपनी ही वासनाओं और आवेगों से प्रतिहत होकर अपने ही खिलाफ लड़ रहे हों ; ऐसे अन्तर्निष्ठ पत्रों की, जो समुचित आत्म-निर्देश की अनुपस्थिति के कारण जीवन के लक्ष्य को खो देते हों, या जो अपराध के माध्यम से ही अपना परीवाह कर पाते हों।

और यह तो कहना ही व्यर्थ है कि अपना समय में असन्तुलित मूल्याङ्कन के कारण दोनों के बारे में काफी गलतफहमी भी बनी रही, गरचे बाद में दास्ताईव्स्की की बहुत अधिक और तुर्गनेव की भी एक हद तक प्रसिद्धि हुई।

और सच पूछिए तो महत्त्वपूर्ण प्रश्न यही है कि दास्ता-ईव्स्की तुर्गनेव की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय क्यों हुआ। हुआ तो क्या यह उचित और युक्तिसंगत है ?

हम इन दोनों औपन्यासिकों पर तीसरी बार, नये सिरे से, विचार करते हैं। हमें अपनी पहली धारणा पर फिर लौटना पड़ता है। प्रसिद्ध उपन्यास-नाटककार चार्ल्स मार्गन के कथनानुसार, क्या बहुत लोग तुर्गनेव को इसलिए नापसन्द नहीं करते कि उसकी वाणी निस्तेज और निःस्पृह है ? क्या उसे पढ़कर हमें किसी नवाबजादे की फिटन के ऐसे घोड़े की याद नहीं आ जाती, जो आराम से रखा जाता है और जो लगाम के इशारे पर चलने का आदी होता है ? वह दास्ताईव्स्की की तुलना में कितना हेय है—दास्ताईव्स्की, जो ऐसा विद्रोही, इतना दुर्दम है। या ताल्स्ताय को ही ले लीजिए, जिसके उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' (War and Peace) के बारे में आधुनिक आलोचकों

का कहना है कि उसमें रूस की साम्प्रतिक विजय का पूर्वाभास है और यह उसकी असाधारण विशिष्टता है।

तब क्या ताज्जुब, अगर कथा-साहित्य में 'जोश' (Dynamism) की तलाश रखनेवाले 'उग्र' और उनके जैसे जोशीले पश्चिमी आलोचक भी दास्ताईव्स्की की तुलना में तुर्गनेव को हीन मानते हैं ? जैसा कि मार्गेन कहते हैं, बहुत काफी लोग तुर्गनेव को गद्यकाव्य में और उच्चवर्ग की नारियों की प्रेमकहानियों का एक कुशल लेखक मात्र मानते हैं। इसके विपरीत, ताल्स्ताय और दास्ताईव्स्की की रचनाओं से कोई भी आधुनिक पुस्तकालय खाली नहीं रहता।

और इतने पर भी अगर कोई कहे कि 'मैं जैसे-जैसे वयस्क होता जा रहा हूँ, मैं उन घोड़ों का प्रशंसक बनता जा रहा हूँ जो बेचैन नहीं रहते, तो आप उसके बारे में क्या कहेंगे ? आप कह सकते हैं कि यह कथन प्रतिगामिता की भावना से प्रेरित हुआ है; लेकिन यह स्वयं ताल्स्ताय की उक्ति है जिस पर प्रतिक्रियावादी होने का अभियोग नहीं लगाया जा सकता।'

मॉड की 'ताल्स्ताय की जीवनी' में इस विषय पर ताल्स्ताय के विचार विस्तार के साथ दिये गये हैं। ताल्स्ताय ने दास्ताईव्स्की के जीवन-लेखक स्त्राखोव के पास एक बड़ी स्पष्टता के साथ लिखा था :

"वह (दास्ताईव्स्की) मर्मस्पर्शी और हृदयग्राहक तो है किन्तु अपने वंशजों के सामने आदर्श के रूप में रखने के लिए, हम एक ऐसे व्यक्ति को उच्च आसन पर स्थापित नहीं कर सकते, जो सदैव संघर्षमय ही बना रहा। तुम्हारी पुस्तक को पढ़ने के बाद ही मुझे आज पहली बार उसके मस्तिष्क की इयत्ता का अनुमान हुआ। मैंने प्रेस्सेंस की पुस्तक पढ़ी है, लेकिन उसकी

सारी विद्वत्ता एक दोष से विकृत हो जाती है। मान लो कि कई सुन्दर घोड़े हैं : लेकिन उनमें से एक कीमती घोड़ा अचानक ही बेचैन हो उठता है—तो ऐसी हालत में खूबसूरत और ताकतवर होने के बावजूद उनकी कुछ भी कीमत नहीं रह जाती। मैं जैसे-जैसे वयस्क होता जा रहा हूँ, मैं उन घोड़ों का प्रशंसक बनता जा रहा हूँ, जो बेचैन नहीं रहते। तुम कहते हो कि तुम्हें आज भी तुर्गनेव पसन्द नहीं। और मैं धीरे-धीरे उसका बहुत बड़ा प्रशंसक बन गया हूँ। और इसका एकमात्र कारण यही है कि वह बेचैन नहीं होता, बल्कि मंजिल पर पहुँच कर ही दम लेता है। उसकी हालत उस घोड़े के समान नहीं है जो सवार को मंजिल तक ले जाने की बात तो दूर रहे, बीच में ही खाई में गिरा भी दे सकता है। प्रेस्लेंस और दास्ताईव्स्की दोनों ही बेचैन हो उठते हैं, इसलिए एक की सारी विद्वत्ता और दूसरों की अनुभूति तथा सहृदयता व्यर्थ सिद्ध होती है। तुर्गनेव को लोग तब भी स्मरण करेंगे जब दास्ताईव्स्की विस्मृत हो जायगा—इसलिए नहीं कि उसमें कलाकार के गुण थे, प्रत्युत इसलिए कि वह बेचैन नहीं होता था।

मार्गन ने कोनराड (Joseph Conrad) से कुछ प्रासंगिक उद्धरण दिये हैं, जिनका उल्लेख तुर्गनेव के सम्बन्ध में बद्धमूल भ्रामक धारणा के प्रामाणिक निराकरण के लिए समीचीन है :—

'उसकी रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ में इसके लिए स्मरण मौजूद हैं कि उसमें निर्घृणता का हानिकारक अभाव था। बस यही समझ लो कि उसमें समस्त गुण वर्त्तमान हैं। आत्यन्तिक विवेक और गम्भीरतम अनुभूतिप्रवणता, निर्मल दृष्टि और क्षिप्रतम संवेदनशीलता, जो कुछ भी पुरुष और नारी के जीवन में महत्त्वपूर्ण

है, अनिवार्य है, इसे परखने की अचूक प्रतिभा, विमल मस्तिष्क, सहानुभूतिपूर्ण हृदय, उदारता।...अब तुम्हीं कहो, किसी भी लेखक के सर्वनाश के लिए और चाहिए ही क्या! प्रिय एडवर्ड, तुम अच्छी तरह जानते हो कि अगर कोई नुमाइश लगी हुयी हो और तुम चिल्ला कर भी लोगों से कहो कि यहाँ पवित्र शरीर और आत्मा वाला ऐन्टिनस खड़ा है, तो उधर कोई झाँकने भी न जायेगा, और भीड़ वहीं लगेगी जहाँ किसी दोमुँही चिड़िया का प्रदर्शन किया जा रहा हो।'

कहने की जरूरत नहीं कि कोनराड का यह कथन केवल अंशत: सत्य है। पहली बात तो यही गलत है कि भीड़ हमेशा उधर ही आकृष्ट होती है, जिधर कोई अजीबोगरीब चीज दिखायी पड़ती है और वह ऐन्टिनस जैसों की उपेक्षा ही करती है। दूसरी यह कि जनता गुमराह भी हो जाये तो बाद की पीढ़ियाँ ठिकाने आ ही जाती हैं। फिर दास्ताईव्स्की या ताल्स्ताय या ऐसे दूसरे लेखक, जो कोनराड के ध्यान में रहे हों, केवल कौतूहल के योग्य हैं, यह कहना सरासर अन्याय होगा।

जब कोनराड दास्ताईव्स्की को 'विक्षुब्ध, त्रास से आतंकित दास्ताईव्स्की' कहकर बर्खास्त कर देती है, तो इससे भी हम सहमत नहीं हो सकते। लारेंस इर्विङ्ग का यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कि विषाद के गम्भीरतम तत्त्वों की दृष्टि से, करुणा और त्रास की प्रगाढ़ भावनाओं के उद्बोधन की तुलना में, जिससे पाठकों के हृदय का रेचन (Katharsis) हो जाता है, कोई भी औपन्यासिक कृति दास्ताईव्स्की के 'अपराध और दंड' (Crime and Punishment) की बराबरी नहीं कर सकती। इर्विङ्ग के शब्दों में ही, इस पुस्तक के सामने पो की कहानियाँ खींचतान मालूम देती हैं; हाफमैन कृत्रिम लगता है; और स्टीवेंसन तो दास्ताईव्स्की

की कल्पना की भयंकर कौंध के सामने दिये की टिमटिमाहट की तरह फीका पड़ जाता है ।

और कोनराड ने तुर्गनेव को 'Serene Turgenev' कहा है। तुर्गनेव के लिए यह विशेषण सर्वथा संगत है। तुर्गनेव 'Serene', स्थितप्रज्ञ, इस माने में नहीं कि उसने परम सुख-सन्तोष की उपलब्धि कर ली हो ; उसने जीवनपर्यन्त शान्ति-सन्तोष के लिए उद्योग ही किया, वह रुका कभी नहीं। उसकी स्थितप्रज्ञता उसकी बुद्धि की पारदर्शिता में निहित थी जो उसकी गल्प-रचना की विशेषता थी। उसकी उदार, अनुकम्पा की भावना ने इस पारदर्शिता को सम्भव बनाया था। इसके फलस्वरूप उसकी शैली में कभी जोशीली वाग्मिता का पुट न आने पाया। लेकिन यह श्लाघ्य अभाव दूसरों के दु:ख-सुख के सम्बन्ध में नि:स्पृह मनोवृत्ति का परिचायक कदापि नहीं था।

यहाँ अब हम तुर्गनेव की शैली के प्रश्न को स्थगित नहीं कर सकते। शैली दवा की तरह कड़वी हो तभी उसमें ईमानदारी मुमकिन हो सकती है, यह एक ऐसी धारणा है जिसकी कसौटी पर तुर्गनेव खरा नहीं उतर सकता। उसकी शैली की ऋजुता, सरलता, आकर्षण और सौन्दर्य को सन्देह की दृष्टि से देखा ही जाता है। लेकिन हमें भूलना न चाहिए कि जहाँ शैली कृत्रिमता और नक्काशी का पर्याय नहीं मानी जा सकती, वहीं उसके अनिवार्य महत्त्व की उपेक्षा भी अनुचित है। शैली सत्य का साधन है और तुर्गनेव की बारीकियाँ उपेक्षणीय नहीं, प्रत्युत सर्वथा स्पृहणीय हैं।

जहाँ तक तुर्गनेव की, कलाकार के रूप में, ईमानदारी का प्रश्न है, एकाधिक रूसी तथा दूसरे पश्चिमी आलोचकों ने इस विषय में सन्देह प्रकट किया है। एडवर्ड गार्नेट ने, जो तुर्गनेव के प्रशंसक

हैं, 'On The Eve' आदि रचनाओं में सामाजिक या राजनीतिक प्रतीकों को प्रमाणित कर, प्रतिकूल आलोचनाओं का उत्तर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। व्यक्तिगत रूप से हम ऐसे समाधान के कायल नहीं ; यह मानना ही पड़ेगा कि तुर्गनेव इसके लिए कभी सचेष्ट नहीं रहा। तुर्गनेव ने प्रवासी होकर अपने देशवासियों के साथ संपर्क रखने का प्रयत्न किया और उसका प्रभाव उसकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित हुआ ही।

उसकी विशेषता थी चरित्रों के द्वन्द्व-संघर्ष और प्रशान्त तत्त्वों के आनुपातिक विश्लेषण में। कोई भी चरित्र द्वन्द्व और तनाव से ही उद्भासित, स्पन्दित हो पाता है, लेकिन, साथ ही साथ अपनी सम्पूर्णता में, मार्गन के शब्दों में, वह अपने प्रशान्त अंश, 'Areas of Peace' भी रखता है। जो चरित्र 'निरा संघर्षमय', ताल्स्ताय के कथनानुसार, 'All Struggle' है, वह खंडित चित्र होता है, अर्द्ध-सत्य ही रह जाता है। तुर्गनेव में ऐसी सूक्ष्मता थी कि वह अपने चरित्रों को पूर्णता के साथ चित्रित कर सके।

ठीक इन्हीं प्रतिमानों के सहारे दास्ताईव्स्की की कला को परखना उसके साथ अन्याय करना होगा और अपने कर्त्तव्य से च्युत होना। दास्ताईव्स्की की शैली, हमें कबूल करने में जरा भी झिझक नहीं, भारी-भरकम, ढीली-ढाली है ; उसके कथानक उलझे हुए होते हैं और उन्हें धक्के के साथ वह आगे बढ़ाता है जिसके लिए वह नाटकीय आकस्मिकताओं का उपयोग करने में भी संकोच नहीं करता। लेकिन ये दोष ह्यूगो, थैकरे, डिकेंस आदि में भी न्यूनाधिक मात्रा में पाये ही जाते हैं। फिर भी दास्ताईव्स्की इनसे कहीं बड़ा कलाकार क्यों है ? फ्रायड के मनःसमीक्षण सम्बन्धी अनुसन्धानों के साथ 'चेतना के प्रवाह' (Stream of Consciousness) के विश्लेषण का प्रचलन गल्प-साहित्य में धड़ल्ले के साथ हुआ और इसके लिए

जेम्स ज्वायस प्रभृति औपन्यासिकों को असाधारण श्रेय मिला। किन्तु दास्ताईव्स्की ने वैज्ञानिक मनःसमीक्षण के आधार के बिना ही आसामान्य मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है ; उसकी अन्तर्दृष्टि की गहराई फ्रायड से प्रभावित औपन्यासिकों में भी यदा-कदा ही पायी जाती है।

और भी, मनोविश्लेषणात्मक औपन्यासिकों की तरह, दास्ताईव्स्की चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को ही अपना साध्य नहीं मान लेता। उसमें पाठकों को उद्‌बुद्ध कर अपने साथ दौड़ा ले चलने की विलक्षण क्षमता है, उसकी भावनाओं के आवर्त्त में पाठकों के पैर टिके रह ही नहीं सकते। ऐसी गतिशीलता (Dynamism) किसी भी कलाकार के लिए गर्व की बात हो सकती है। पर इसमें एक खतरा भी होता है। कलाकार इस गतिशीलता को ही अपना परम लक्ष्य समझने की भूल बहुत आसानी से कर बैठता है और तब उसकी गतिशीलता 'जोश' भर रह जाती है, जो साहित्य का गुण नहीं है। दास्ताईव्स्की की गतिशीलता के पेरणा-केन्द्र हैं उसके रूढ़िमुक्त, अभिनव तथा मौलिक विचार, जो कभी लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होते।

इन सभी बातों के ऊपर दास्ताईव्स्की की, शरीर में रक्त की तरह सर्वत्र व्याप्त, परिहास-भावना (Sense of humour) है, जो जले पर नकम छिड़कने के बदले आँसुओं को भी इन्द्रधनुष की सप्तवर्णता उधार देने की सामर्थ्य रखती है। तुर्गनेव में भी यह गुण है, प्रायः सभी रूसी लेखकों में यह पाया जाता है, पर उतना किसी में नहीं जितना दास्ताईव्स्की में।

कलासम्बन्धी

१ आधुनिक कला और भारत

२ धर्म और प्राचीन भारतीय कला

३ भारतीय मूर्तिकला में 'ध्यान' की अभिव्यक्ति

आधुनिक कला और भारत

बात चल निकलने पर लोग बहुधा तर्क—अपनी समझ में अखण्डनीय तर्क—उपस्थित कर बैठते हैं, 'तुम्हारे यहाँ गौरवपूर्ण ग्रीक ट्रेजडियों की तुलना में क्या है ?' इसका एक ही उत्तर दिया जा सकता है, 'कुछ नहीं'। लेकिन प्रति-प्रश्न तो किया जा सकता है, 'संस्कृत के अमर रूपकों की तुलना में ग्रीस क्या रख सकता है ?'

वस्तुतः ये दोनों ही तर्क दुर्बल हैं। इनका आश्रय लेनेवाले यह भूल जाते हैं कि ये दोनों महान् सभ्यताएँ अन्योन्य-भिन्न आधारों से प्रेरित हुईं और सर्वथा भिन्न साध्यों की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र रेखाओं पर विकसित हुईं।

ग्रीस की ट्रेजडियों की तुलना में संस्कृत नाटकों के मध्य अनिच्छापूर्वक आरोपित करुण-तत्त्व को उल्लेखनीय महत्त्व नहीं दिया जा सकता। लेकिन, दूसरी ओर, रस-परिपाक, जो संस्कृत नाट्यकारों का एकमात्र उपेय था, ग्रीस में अनाविष्कृत रहा। इस दृष्टि से ग्रीक ट्रेजडियों को अपेक्षाकृत कम सफल मानना पड़ेगा।

अतः विवेकपूर्ण मनोवृत्ति मूल्यों के संश्लेषण द्वारा इन दोनों संस्कृतियों की असाधारण महत्ता को स्वीकार करेगी। ग्रीस के आदर्शों के अनुसार भारतीय कला एक विचित्र दृश्य उपस्थित करती है; यही बात भारतीय आदर्शों के अनुसार ग्रीक कला के बारे में भी सच है। यह ठीक है कि ग्रीस की यथार्थवादी कला (Representational art) दुनिया में अपना सानी नहीं रखती, पर यही बात भारतीय अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) के बारे में भी कही जा सकती है। अतः यदि भारतीय कला का प्रेमी जहाँ ग्रीस की सूखी यथार्थवादिता की खिल्ली उड़ाता है, वहाँ उसका एक अंधभक्त भारत के विलक्षण अभिव्यञ्जनावाद की—चाहे वह साहित्य में, मूर्त्तिकला में या चित्र-कला में हो—अवहेलना करे, तो यह भी अप्रत्याशित नहीं है।

पर इसका अर्थ यह नहीं कि उनका तारतम्यिक मूल्याङ्कन एकदम असंभव या अनुचित है। हाँ, एक को दूसरे के दृष्टिकोण से परखना अवश्य ही समीचीन न होगा; पर काल की जो एक शाश्वत तुला है, उस पर दोनों को तौलना कदापि अन्यायसंगत न होगा।

यहाँ पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि अभी हाल तक ग्रीक कला भारतीय कला से श्रेष्ठ मानी जाती रही है। जहाँ यूरोपीय कलाकारों के लिए ग्रीस की कला आदर्श रूप में स्पृहणीय रही है, वहाँ भारतीय कला एक ऐसा विषय रही है, जिसमें कलाकार या कलाविद् नहीं, वरन् ऐतिहासिक और पुरातत्त्ववेत्ता ही दिलचस्पी लेते रहे हैं।

आज भी यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक भारतीय कलाकार भी प्राचीन भारतीय कला में जो दिलचस्पी ले रहे हैं, वह ऊपरी से कुछ अधिक है। आज भी प्राचीन भारतीय कला के

आदर्शों, उसके महत्त्व और संभावनाओं को कलाकार या आलोचक अच्छी तरह अनुभव कर सके हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

इस बात का तो दृढ़तापूर्वक दावा किया जा सकता है कि भारतीय कला की मूल प्रेरणा के रूप में जो भावना है, वह ग्रीक कला की प्रेरणा से कहीं श्रेष्ठ है। आजकल भारतीय कलाकारों द्वारा अजंता की चित्रकारी का जो गतिहीन, अमौलिक अनुकरण हो रहा है, उसके आधार पर यह बात नहीं कही जा रही है। परन्तु आश्चर्य तो तब होता है, जब हम देखते हैं कि पश्चिम की आधुनिक युग की कला भी भारत की प्राचीन कला के आदर्शों को लेकर चल रही है। यूरोप की आधुनिक कला की आत्मा और भावना ग्रीक कला की अपेक्षा भारत की प्राचीन कला के अधिक समीप है, और हमारे निश्चय का यही आधार है।

यह समीपता इतनी स्पष्ट है कि, आश्चर्य है, कलाकारों और कला के आलोचकों की दृष्टि इधर नहीं गयी। इसका एकमात्र कारण यही है कि अजंता से लेकर मातिसे और गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, गान्धार-अमरावती मूर्त्तिकला से लेकर माइकेल एंजेलो, रोदें और एप्स्टाइन तक जो सातत्य और अन्तस्सातत्य की एक धारा प्रवाहित होती रहती है, उस पर विवेचकों का ध्यान ही नहीं गया।

यहाँ हमें सतर्कता से काम लेना चाहिए। यह सातत्य इतना सीधा और स्पष्ट नहीं, जितना एक पक्षपातपूर्ण व्यक्ति समझ सकता है। उदाहरणतः, अनुकरण तो दूर रहे, यह कहना भी कठिन है कि मातिसे पर अजंता का सीधा प्रभाव पड़ा है। इससे भारतीय कल्पना की उदात्तता ही प्रकट होती है। इसके विपरीत ह्विस्लर के युग में यूरोप में चटकीले वर्णोंवाले जापानी चित्रों की तरफ जो एक झुकाव पैदा हो गया था, वह यूरोपीय कलाकारों के ही मध्य में रहनेवाले होकासाइ की कृतियों द्वारा प्रभावित एक

क्षणिक आवेशमात्र था। अतएव यह कहा जा सकता है कि आज यूरोप, युगों के प्रयोग के बाद, एक दूसरे ही मार्ग में उसी आदर्श पर आ रहा है, जिससे भारत हजारों वर्ष पूर्व परिचित था।

यहाँ आधुनिक यूरोप पर भारत का क्या ऋण है, यह प्रमाणित करना हमारा अभीष्ट नहीं, यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों की प्राचीन भारत पर प्राचीन यूरोप के ऋण की बात प्रमाणित करने की प्रवृत्ति पर हँसी भी कम नहीं आती। हमारा ध्येय तो प्राचीन भारतीय कला के आधान के शाश्वत गौरव का निर्देशमात्र करना है। उसके आदर्श आज भी उपयोगी हैं। आज कुछ पाश्चात्य कलाकार, जो महान् बौद्धिक संघर्ष के पश्चात् उन आदर्शों तक पहुँचे हैं, कहते हैं कि उन्होंने लोगों के सामने एक नए क्षेत्र का उद्‌घाटन किया है, पर लोग उनका महत्त्व नहीं समझते। किन्तु सुदूर अतीत में भी भारतीय कलाकार उन आदर्शों से परिचित थे और उन्हें अपनी कला तथा लोगों की विवेकपूर्ण गुणग्राहकता में पर्याप्त विश्वास था।

टेकनीक की, या अन्य प्रकार की महत्त्वशून्य समानताओं के आधार पर एक देश का दूसरे देश पर ऋण की बात करना साधारण हो गया है। उदाहरणार्थ, संस्कृत रूपकों की ग्रीक उत्पत्ति का सिद्धान्त ही लिया जा सकता है। पर हम प्रारम्भ से ही ऐसी प्रवृत्ति से अलग रहे हैं।

हमें यह जानकर कम आश्चर्य नहीं होता कि जहाँ ग्रीक कला के सभी आदर्श एक-एक कर परित्यक्त हो गए हैं, वहाँ आधुनिक युग की कला की मूल भावना प्राचीन भारतीय कला के सर्वथा अनुरूप दीखती है। हम यहीं कह दें कि आधुनिक यूरोप इतने प्रयत्नों के पश्चात्, दूसरे मार्ग से होकर, उसी आदर्श पर पहुँचा है, इससे नवजाग्रत संकीर्ण भारतीय राष्ट्रीयता का कोई वास्ता नहीं हो सकता। पर भारतीय कल्पना की सत्यता तो इससे प्रमाणित होती ही है।

किन्तु यहाँ प्राचीन भारत और आधुनिक यूरोप की एक विशेषता पर ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक है। भारतीय भावनाओं के मूल में धर्म था, पर आधुनिक युग पर फ्रायड और मार्क्स का अमार्जनीय प्रभाव रहा है। इस मौलिक विभेद के बावजूद एक ही परिणाम पर पहुँचना संभव है। जिस प्रकार डी० एच्० लारेंस और फ्रायड अपने-अपने स्वतन्त्र मार्ग से चलकर भी अचेतन की महत्ता के तथ्य पर पहुँचे थे, उसी प्रकार अजंता और मातिसे की कला भी अभिव्यञ्जनावाद का उत्कृष्ट उदाहरण है, यद्यपि एक पर दूसरे का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं के बराबर है।

इधर भारत में भी कुछ हद तक पारस्परिक प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा है। इस देश के कुछ कलाकार, जिनके लिए भारतीय अभिव्यञ्जनावाद एकदम नयी चीज नहीं हैं, अभिव्यञ्जनावाद की नयी पश्चिमी व्याख्याओं से प्रभावित हुए हैं। उनमें रवीन्द्रनाथ और गगनेन्द्रनाथ ठाकुर प्रमुख हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने, साहित्य-क्षेत्र की तरह चित्र-कला के क्षेत्र में भी, भारतीय और यूरोपीय कला का समन्वय करते हुए महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए हैं। भारत के प्रसिद्ध कलाविद् आनन्दकुमारस्वामी ने रवीन्द्र की कृतियों के इस पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। पर वे भी इसके महत्त्व की गहराई में नहीं गए हैं। रवीन्द्र के चित्रों में हाथ का ऐसा कच्चापन दिखलाई पड़ता है, जैसा कि एक अभ्यासरहित व्यक्ति में होना स्वाभाविक है और इसे स्वयं उन्होंने भी स्वीकार किया है। पिकासो और मातिसे के कुछ अतिशय सरलीकृत आकलनों को देख कर भी यही अभियोग लगाया गया था, किन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि रूढ़ रेखाङ्कन में भी जहाँ ये कलाकार अपना सानी नहीं रखते, वहाँ रवीन्द्र के लिए चित्र-कला गौण विषय रही है। गगनेन्द्रनाथ ने और भी महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए हैं, और वे अधिक प्रसिद्ध नहीं हो सके

इसका कारण यही है कि लोग उनके प्रयोगों का महत्त्व समझ न सके। यदि ऐसी बात न थी, तो क्या कारण है कि वे साधारण कोटि के प्राचीन कला के अनुकरण करनेवालों के बराबर भी ख्याति नहीं प्राप्त कर सके ?

हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि मथुरा-अमरावती के मूर्त्ति-निर्माताओं के वंशधरों में कोई एप्स्टाइन का प्रतिरथ नहीं है। अजंता-बाग के चित्रकारों के उत्तराधिकारियों में कोई पिकासो और मातिसे का समकक्ष नहीं दीख पड़ता और न बाण और हर्ष जैसे प्रकाण्ड बुद्धिवादी पूर्वपुरुषों का दावा करनेवालों में कोई जेम्स ज्वायस या टी० एस० एलियट के साथ उल्लेखनीय साहित्य-स्रष्टा ही है। काव्य के क्षेत्र में कुछ हद तक रवीन्द्र-'निराला' की कुछ कविताएँ और कुल मिलाकर दस-बीस छोटी कहानियाँ—विश्व के कला-कोष में आधुनिक भारत का इतना ही चंदा है, यों चाहे हम जो कुछ अपने बारे में कहते रहें। एक समृद्ध परम्परा के रहते हुए भी ऐसी हीनता अवश्य खेद-जनक है !

अन्त में हमें यह कहना है कि आधुनिक भारतीय कला का उद्धार प्राचीनता को अपनाने में ही नहीं है, चाहे वह कितना ही जाज्वल्यमान क्यों न रहा हो। वे टेकनीक और ढंग विस्मृत हो गए हैं, यद्यपि उन आदर्शों से आज भी हम प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। पश्चिम में जो प्रयोग हो रहे हैं वे अधिक वैज्ञानिक हैं, अतएव अब हमें उन्हें निस्संकोच अपना लेना चाहिए, जैसे हमने साहित्य-क्षेत्र में कहानियों तथा उपन्यासों के साहित्यिक रूपों को अपना लिया है।

धर्म और प्राचीन भारतीय कला *

किसी भी देश या धर्म के प्रति विदेशी या परधर्मावलम्बी के हृदय में तभी श्रद्धा का भाव आ सकता है, जब वह एक उन्नत साहित्य और उत्कृष्ट कला का दावा रखता हो। जैनधर्म इन दोनों दृष्टियों से जैनेतर विचारकों और विवेचकों के द्वारा समादृत हुआ है। सच पूछिए तो जो धर्म लोक-कल्याण या दार्शनिक गरिमा में किसी भी धर्म की बराबरी कर सकता है उसकी सांस्कृतिक महत्ता स्वाभाविक ही थी।

मुझे यहाँ सिर्फ जैन धर्म तथा उससे सम्बद्ध स्थापत्य-कला (architecture), मूर्त्ति-कला और चित्र-कला के उत्कर्ष के बारे में विचार करना अभिप्रेत है।

आपको यह प्रारम्भ में ही समझ लेना चाहिए कि जैन धर्म, बौद्ध धर्म या हिन्दू धर्म की तरह, आप अपनी जैन शैली की कला, बौद्ध शैली की कला या हिन्दू शैली की कला—कोई ऐसा वर्गीकरण नहीं कर सकते। भारतीय कला के अध्ययन के

---

* विशेषतः जैन धर्म और कला।

प्रारम्भिक काल में विद्वानों ने यह भूल की थी। उनके इस भ्रम का निराकरण दूसरे विद्वानों ने किया। यह भूल जैन मतावलम्बी या जैनधर्म के पक्षपाती विद्वानों ने की हो, ऐसी बात नहीं। भारतीय कला का इस प्रकार का साम्प्रदायिक वर्गीकरण सबसे पहले एक निष्पक्ष पाश्चात्य कला-मर्मज्ञ फर्गुसन ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक History of Indian Architecture में किया था।

भारतीय कला के इस भ्रामक वर्गीकरण का खंडन बुलर ने Epigraphica Indica में एक लेख द्वारा किया है। उनके इस मत की पुष्टि विंसेंट स्मिथ ने अपनी पुस्तक The Jaina Stupa and other Antiquities of Mathura में और आनन्द-कुमारस्वामी ने History of Indian and Indonesian Art में की है।

इन तीनों विद्वानों ने ठीक ही कहा है कि भारतीय कला एक अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में जीवित रही है। बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों ने अपने युग और देश की कला को आवश्यकता-नुसार अपनाया। इन सभी धर्मों ने कला के क्षेत्र के प्रतीकों और रूढ़िगत रीतियों का एक ही स्रोत से लिया। चाहे स्तूप हों या पवित्र वृक्ष या चक्र—ये सभी धार्मिक या कलात्मक तत्त्वों के रूप में, सबके लिए सहज-सुलभ थे। आनन्दकुमारस्वामी के शब्दों में 'यद्यपि प्रायः समस्त भारतीय कला धार्मिक है, फिर भी यह कहना गलत है कि उसकी शैलियाँ सम्प्रदायों पर निर्भर थीं।'

इस सत्य को ध्यान में नहीं रखने के कारण ही जायसवाल जैसे विद्वान् ने भी जैन धर्म से सम्बद्ध वास्तु-कला के बारे में एक

बड़ी भ्रामक बात कह दी है। जैन और बौद्ध मन्दिरों पर अप्सराओं, सिद्धों और यक्षों आदि की मूर्त्तियों के बारे में अपने 'अंधकारयुगीन भारत' में वे कहते हैं—'बौद्ध तथा जैन वास्तु में इस प्रकार की मूर्त्तियों का एकमात्र अर्थ यही हो सकता है कि वे ब्राह्मण सम्प्रदाय के वास्तु से ही ली गई थीं और उन्हीं की नकल पर केवल वास्तु की शोभा और अलंकरण के लिये बनाई जाती थीं।' जायसवाल महोदय यह भूल जाते हैं कि कला के इन प्रतीकों और रूढ़ियों पर जैनियों तथा बौद्धों का उतना ही अधिकार था जितना ब्राह्मण सम्प्रदाय या हिन्दू धर्म का, क्योंकि इन तीनों धर्मों से सम्बद्ध कलाओं का सीधा और स्वतन्त्र सम्बन्ध भारतीय कला से था। भारतीय कला की ये तीनों शाखाएँ परस्पर-निर्भर होने के बदले समानाश्रयी थीं।

जहाँ तक स्थापत्य कला (Architecture) का प्रश्न है, जैनियों की बराबरी शायद ही कोई दूसरा भारतीय धर्म कर सके। जिस तरह बौद्ध धर्म से सम्बद्ध अजन्ता के मण्डोदक चित्र (Frescoes) विश्व की चित्र-कला में अपना सानी नहीं रखते, उसी तरह स्थापत्य में जैनियों का स्थान अद्वितीय है। फ्रेंच कलाविद् ग्यूरिनो ने अपनी पुस्तक 'ला रेलिजन द जैन' में ठीक ही कहा है कि 'विशेषतः स्थापत्य कला के क्षेत्र में जैनियों ने ऐसी पूर्णता प्राप्त कर ली है कि शायद ही कोई उनकी बराबरी कर सके।' दूसरे धर्मों के विशाल और सुन्दर मन्दिर पाए जाते हैं, लेकिन जैनियों ने 'मन्दिरों के नगरों' को प्रतिष्ठित कर संसार को चकित कर दिया है। शत्रुञ्जय के शिखर पर जो 'मन्दिरों का नगर' है वह विस्मय की चीज है।

जैनियों की स्थापत्य-कला के सबसे प्राचीन अवशेष उत्कल के उदयगिरि और खण्डगिरि पर्वतों की और जूनागढ़ के गिरनार

पर्वत की गुफाओं में मिलते हैं। मूर्त्तिकला के प्राचीनतम अवशेष मथुरा के कंकाली-तिला और दूसरे स्तूपों में मिलते हैं। उदयगिरि और खण्डगिरि के गुफाओं के बारे में फर्गुसाँ का कहना है कि उनकी विचित्रता और प्राचीनता तथा उनमें पायी जानेवाली मूर्त्तियों के आकार-प्रकार के कारण उनका महत्त्व असाधारण है।

उदयगिरि की हाथीगुम्फ गुफा खारवेल के शिला-लेख के कारण ही महत्त्वपूर्ण है। स्थापत्य-कला की दृष्टि से रानि और गणेश गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें पार्श्व का जीवन-वृत्त बड़ी कुशलता से खचित है।

यहाँ मूर्त्तियों में भी, मथुरा की तरह, यूनानी और भारतीय वेष-भूषा का मिश्रण है। कारण स्पष्ट है। भारत और यूनान का संपर्क बहुत पुराना है और पारस्परिक प्रभाव स्वाभाविक ही है। आगे चलकर बौद्ध धर्म से सम्बद्ध गान्धार मूर्त्ति-कला में भी यही बात पायी जाती है, लेकिन जीवन का जो उल्लास और हास यहाँ पाया जाता है वह गान्धार की संयत कला में दुर्लभ है।

मथुरा के कंकाली या जैनी तिलास्तूप की कला ईसा के पूर्व पहली शताब्दी से लेकर ईसा के बाद दूसरी-तीसरी शताब्दियों तक विकासोन्मुख रही होगी। मथुरा चूँकि अमरावती, सारनाथ और गान्धार के बीचोबीच अवस्थित है, इसलिये वहाँ की कला में परम्परागत भारतीय कला तथा गान्धार की यूनान से प्रभावित कला के आदर्शों का सुन्दर समन्वय हुआ है।

भारतीय मूर्त्ति-कला पर यूनानी-कला का प्रभाव हिलकर ही हुआ। जिस तरह आधुनिक काल में भारतीय कला की अभिव्यञ्जनात्मकता (Expressionism) को अपना कर

इङ्गलैण्ड के श्रेष्ठ मूर्तिकार एप्स्टाइन तथा फ्रांस के प्रसिद्ध चित्रकार मातिसे प्रभृति ने अपने नए-नए प्रयोगों से संसार को चमत्कृत कर दिया है, उसी तरह भारतीय कला पर यूनान का प्रभाव स्पृहणीय हुआ। पाश्चात्य कला 'दर्पणे प्रतिबिम्बवत्' यथार्थता (Photographic representation) को ही कला का चरम उत्कर्ष मानती आयी है। इसके विपरीत भारतीय दृष्टि से कला की पराकाष्ठा अभिव्यञ्जना (Expression) में ही निहित है। इसका फल यह हुआ कि पाश्चात्य देशों की कला के इतिहास में एकाधिक बार जड़ता के युग आ गए हैं। अभिव्यञ्जना-रहित यथार्थता में जड़ता का आना स्वाभाविक ही है। दूसरी ओर भारतीय कला भी निराधार अभिव्यञ्जना के कारण प्रभाव-शून्य हो जाया करती थी। इसलिए जब कभी इन दोनों आदर्शों का समन्वय हुआ है, तो उसका परिणाम अच्छा ही हुआ है। उदाहरणार्थ, मथुरा-गान्धार शैली में यूनान के शारीरिक स्वास्थ्य-सौन्दर्य के आदर्श को स्वीकार कर लेने से एक प्रभावपूर्ण सन्तुलन आ गया है।

कला की दृष्टि से मथुरा के आयाग-पट, बोद्ध-स्तूप और तोरण उल्लेखनीय हैं।

आयाग-पट पर खचित दो नारी-विग्रहों में विन्सेंट स्मिथ महोदय ने अश्लीलता का आभास पाया है। कला में अश्लीलता का प्रश्न बहुत टेढ़ा है। इस विषय पर यहाँ कुछ विचार करने का अवसर नहीं है।* यहाँ पर इतना कह देना पर्याप्त है कि पश्चिम में हो या पूर्व में, धार्मिक

* सविस्तर विवेचन के लिए इसी संग्रह के प्रारम्भ के दो लेख देखिए।

कला ने इस विषय में अत्यन्त उदार दृष्टिकोण अपनाया है। यह आश्चर्य की बात है कि विंसेंट स्मिथ महोदय भारतीय धार्मिक कला में अश्लीलता का दोष निकालें। असल में स्मिथ कभी भारतीय कला के आदर्शों को ठीक से हृदयंगम नहीं कर पाए थे। भारतीय कला पर जब उन्होंने पहले-पहल कलम चलायी थी, तो उन्होंने एक शब्द भी उसकी प्रशंसा में नहीं कहा था। बाद में, हैवेल इत्यादि की भारतीय कला की विशेषताओं की व्याख्या के बाद, उन्हें अपना मत पूर्ण रूप से बदल देना पड़ा था।

अस्तु, संक्षेप में जहाँ मथुरा और उत्कल के वास्तु में नर्त्तकियों की मूर्त्तियाँ गति और विकास अभिव्यक्त करती हैं, वहीं भगवान् बुद्ध की तरह समाधिलीन तीर्थङ्करों की मूर्त्तियाँ कर्म के बन्धनों से मुक्त परिनिर्वाण की सफल अभिव्यञ्जना करती हैं।

जैन स्थापत्य के अपेक्षाकृत अर्वाचीन उदाहरण आबू, पारसनाथ, राजपुर, पावापुरी आदि तीर्थों में और राणा कुंभा के समय के अवशेषों में पाए जाते हैं।

दक्षिण में, जहाँ बौद्ध धर्म के स्थापत्य के इने-गिने अवशेष हैं, वहाँ जैन धर्म के प्राचीन स्थापत्य के बहुसंख्य उदाहरण आज भी प्राप्य हैं।

इनमें प्रमुख हैं एल्लोरा की इन्द्र-सभा और जगन्नाथ-सभा। इनकी खुदाई बादामी या राष्ट्रकूट शाखा के चालुक्य राजाओं के तत्त्वावधान में हुई होगी। पाण्ड्य प्रदेश में कलुगमलइ का अद्भुत मन्दिर है। वह भी विद्वानों के मत से मूलतः जैन धर्म का ही रहा होगा।

बौद्ध और हिन्दू मन्दिरों की तरह जैन मन्दिर-स्थापत्य के भी दो प्रधान वस्तु-प्रतीक हैं—स्तूपाकार उपरि-भाग और शिखर। जैन

स्थापत्य में इनका निर्माण जिस सफलता के साथ हुआ है वह आश्चर्यजनक है।

अब, संक्षेप में, जैनधर्म से संबद्ध चित्र-कला का निदर्शन करने का प्रयत्न किया जायगा।

सबसे प्राचीन जैन चित्र मद्रास में तांजोर के पास पुद्दूकोटा रियासत के सित्तन्नवासल के गुफा-मन्दिर की दीवारों पर पाए जाते हैं। इनका समय ६२५-६५० ईस्वी सन् है।

भारतीय चित्र-कला के सबसे प्राचीन उदाहरण सरगुजा रियासत की जोगीमारा गुफा की दीवारों पर मिलते हैं। इन प्रागैतिहासिक चित्रों की कला उसी तरह की है जिस तरह की तत्कालीन स्पेन, मेक्सिको, क्रीट आदि की है।

इसके बाद भारतीय कला के प्राचीन और साथ-ही-साथ उत्कृष्ट उदाहरण हैदराबाद के अजन्ता और एल्लोरा, ग्वालियर के बाघ, बम्बई के बादामी और मद्रास के सित्तन्नवासल की गुफाओं में ही मिलते हैं।

अजन्ता-एल्लोरा की चित्र-कला के बारे में प्रसिद्ध ही है कि इनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। लेकिन सित्तन्नवासल के जैन धर्म से सम्बद्ध भित्तिचित्रों का मण्डोदक चित्रों की कला भी उच्च कोटि की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अजन्ता के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों के साथ सित्तन्नवासल के चित्रों की तुलना करना अन्याय होगा, किन्तु ये चित्र भी भारतीय चित्र-कला के इतिहास में गौरव का स्थान पाते हैं। इनकी रचना-शैली बाग और अजन्ता के भित्ति-चित्रों से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इसका कारण यही है कि ये सभी शाखाएँ एक ही स्कन्ध, भारतीय कला के स्कन्ध, से निकली थीं। जैन स्थापत्य की चर्चा करते हुए मैंने इस बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर दिया था।

दृष्टिकोण :

सित्तन्नवासल के बाद जैन धर्म से सम्बद्ध चित्र-कला के उदाहरण भारतीय इतिहास के उत्तर-मध्यकाल अर्थात् दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर १५ वीं शताब्दी तक मिलते हैं।

इसके पहले चित्र-कला लुप्त हो गई हो, ऐसी बात नहीं। लेकिन प्राचीन भारत के जो भी अवशेष हमें मिल जाते हैं, उन्हें गनीमत समझना चाहिए। मागधी प्राकृत की सुरसुन्दरी-कहा प्रभृति जैन पुस्तकों में चित्र-कला के सातत्य के स्पष्ट प्रमाण मिलते है, यद्यपि अवशेष कुछ बाद के ही उपलब्ध हैं।

सच पूछिए तो मध्यकालीन चित्र-कला के अवशेषों के लिए हम मुख्यतः जैन भण्डारों के ही आभारी हैं। पहली बात तो यह है कि इस काल में प्रायः एक हजार वर्ष तक जैन धर्म का प्रभाव भारतवर्ष के एक बहुत बड़े हिस्से में फैला हुआ था। दूसरा कारण यह भी है कि धनी-मानी जैनियों ने बहुत बड़ी संख्या में धार्मिक ग्रन्थ ताड़-पत्र पर लिखित और चित्रित (Illuminatod) करा कर बँटवाए थे।

ये जैन चित्र प्रधानतः श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ही हैं। इसका कारण स्पष्ट है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के तत्त्वावधान में अर्हत और तीर्थङ्करों के चित्रों को अलंकृत करने का अवसर चित्रकारों को प्रर्याप्त मात्रा में मिल सकता था, लेकिन दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं।

निशीथचूर्णी, अंगसूत्र, त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र, नेमिनाथ-चरित्र, कथारत्नसागर, संग्रहणीयसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, कल्पसूत्र, सावगपड्किमणसुत्तचुन्नी इत्यादि वे प्रमुख ग्रन्थ हैं, जिनकी चित्रित प्रतियाँ आज भी उपलब्ध हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य के कतिपय कृतियों में भी जैन चित्र-कला के सुन्दर नमूने मिलते हैं। करणानुयोग सम्बन्धी

त्रिलोकप्रज्ञप्ति, तिलोकसार प्रभृति प्राचीन ग्रन्थों में चित्र-कला के सुन्दर नमूने हैं।

चूँकि पहले-पहल इस काल के प्रतिनिधि-स्वरूप चित्र जैन धर्म से ही सम्बद्ध पाए गए, इसलिए इस काल की चित्र-कला की शैली का नामकरण जैन शैली किया गया।

इस नामकरण को क्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता, इसका एक प्रमुख कारण मैं आपको पहले ही बता चुका हूँ।

एक दूसरा कारण भी है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारतीय चित्र-कला के इतिहास के शोध के सिलसिले में, कुछ दिनों के बाद, ऐसे बहुत सारे चित्रित अजैन ग्रन्थ मिले, जिनकी टेकनीक पूर्वोक्त चित्रित जैन ग्रन्थों से मिलती-जुलती थी—उदाहरणार्थ वसन्तविलास, बालगोपालस्तुति, गीतगोविन्द, दुर्गासप्तशती, रति-रहस्य, इत्यादि।

इस आधार पर श्री न्हानालाल चमनलाल मेहता ने, जो भारतीय कला के मर्मज्ञ विद्वान् और आलोचक हैं, इस काल की शैली का नामकरण 'गुजरातशैली' किया।

लेकिन कालान्तर में इस प्रकार के बहुत से ग्रन्थ मिले जिनका क्षेत्र गुजरात से बाहर था—जैसे, राजपूताना, मालवा, जौनपुर, पंजाब, इत्यादि। इसलिये आनन्दकुमारस्वामी ने इसका नामकरण पश्चिम-भारत-शैली किया है, यद्यपि अब तो ऐसे ग्रन्थ दक्षिण में भी मिले हैं और इस नाम में भी अव्याप्ति दोष आ जाता है।

यहाँ हमें इस समय की कला की विशेषताओं के संक्षिप्त परिचय से ही सन्तोष करना पड़ेगा।

मुझे यह देख कर बहुत आश्चर्य हुआ था कि इस शैली के महत्त्व को राय कृष्णदास जैसा कला का पारखी

बिलकुल नहीं समझ पाया है। अपनी 'भारत की चित्रकला' में उन्होंने लिखा है कि इस शैली में 'न सौन्दर्य है, न रेखाओं का दम-खम और न कल्पना की उड़ान।' यह आलोचना कुछ वैसी है जैसी पाश्चात्य विद्वानों की समस्त भारतीय कला के सम्बन्ध में, प्राच्य विद्या के प्रारम्भिक काल में, हुई थी। उनके मतानुसार तो अनेक भुजाओं वाली भारतीय मूर्तियाँ कला की श्रेणी में आ ही नहीं सकती थीं। लेकिन उन्होंने पीछे चलकर भारतीय कला की अन्तर्निहित वास्तविक आध्यात्मिक विशेषताओं को समझ लिया और वे अपनी गलती स्वीकार करने में पीछे नहीं रहे।

राय कृष्णदास को यह समझना चाहिये कि उपर्युक्त चित्रों में 'एक प्रकार की निर्मलता, स्फूर्ति और गतिवेग है, जिससे डा० आनन्दकुमारस्वामी जैसे रसिक विद्वान् मुग्ध हो जाते हैं।' (एन० सी० मेहता, 'भारतीय चित्र-कला')

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये चित्र अजन्ता या सित्तन्नवासल के चित्रों की तरह रोचक नहीं, फिर भी किसी भी सुसंस्कृत मस्तिष्क पर इनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

इन चित्रों की सरलता और स्पन्दनशीलता को देखकर एन० सी० मेहता तो यहाँ तक कहते हैं कि 'यही चित्रशैली हिन्दुस्तान की लोक-शैली रही!'*

---

* यह निबन्ध श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन, आरा में महावीर-जयन्ती के अवसर पर सभापति के पद से पढ़ा गया था।

भारतीय मूर्त्ति-कला * में 'ध्यान' की अभिव्यक्ति

यहाँ पर यह बहुत आवश्यक तो नहीं मालूम होता, फिर भी गलत-फहमी से बचने के लिये हम स्पष्ट कर ही दें कि 'जैनमूर्त्ति-कला' से हमारा क्या तात्पर्य है। जैसा कि हमने भारतीय कला सम्बन्धी अपने पिछले प्रबन्ध में स्पष्ट कर दिया है, हम इस शीर्षक (जैन मूर्त्ति-कला) का उपयोग केवल सुविधा की दृष्टि से ही कर रहे हैं और हमें इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान है कि धर्म के आधार पर भारतीय-कला का वर्गीकरण इतिहास का गला घोंटना है। हमने अपने पूर्वोक्त प्रबन्ध में बताया है कि किस प्रकार यह भूल सबसे पहले फर्गुसॉ ने अपने History of Indian Architecture में की थी, और किस प्रकार ऐसे वर्गीकरण की अन्तर्निहित भ्रामकता का खण्डन बुलर, स्मिथ और कुमारस्वामी जैसे आलोचकों ने किया।

योगी-सी आकृति वाली मूर्त्तियाँ भारतीय मूर्त्ति-कला में सामान्य-रूप से पायी जाती हैं—चाहे वह हिन्दू धर्म से अनुप्राणित हो चाहे बौद्ध या जैन धर्म से। फिर भी वह तो निःसंदिग्ध है कि विश्व को इस प्रकार की मूर्त्तियों की देन का श्रेय हिन्दू तथा जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म को ही अधिक है। जो भी हो, विवेकशील विद्वानों ने और गुणज्ञ पारखियों ने पत्थर के माध्यम से ध्यानावस्था की इस असाधारण अभिव्यक्ति की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। जैन धर्म से स्पष्टतः अनुप्रेरित इस प्रकार की मूर्त्तियाँ भी भारतीय मूर्त्ति-कला के उत्कर्ष की सामान्य प्रशंसा में हिस्सा बँटाने का अधिकार रखती हैं।

---

* विशेषतः जैन मूर्त्ति-कला में।

दृष्टिकोण :

भारतीय मूर्त्ति-कला की यह एक विलक्षण विशेषता है कि उसमें हम सृष्टि तथा अविनश्वरता की गति और स्थिरता की, पत्थर में, समान रूप से सफल, अभिव्यक्ति पाते हैं। 'नटराज' की सुप्रसिद्ध मूर्त्ति में परिलक्षित गत्यात्मकता के रहस्य को रोदें तथा एप्स्टाइन जैसे कलाकार ग्रहण कर पाए हैं। समाधि की अवस्था को अभिव्यक्त करनेवाली मूर्त्तियों की पूर्ण स्थिरता भारतीय कलाकारों की एक ऐसी सिद्धि है, जो दूसरे देशों के कलाकारों में आज भी नहीं पायी जाती। लेकिन इसके पहले कि हम इस सम्बन्ध में विचार करें हमें एक दूसरी आवश्यक बात पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिये।

ऐसी मूर्त्तियों की कलात्मक उत्कृष्टता के विवेचन के पूर्व हम यह सर्वथा आवश्यक समझते हैं कि इसके सुदूर उद्भव के सम्बन्ध में प्रचलित एक गलतफहमी की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर दिया जाय।

कुछ विद्वान्, जिनमें सर जान मार्शल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, इस प्रकार की मूर्त्तियों के आविर्भाव काल को भारतीय इतिहास के सिन्धु-नद-सभ्यता के युग तक ले जाने का प्रयत्न करते हैं। मार्शल ने अपनी विशालकाय पुस्तक Mohenjodaro and the Indus Civilization (१६३१) में उस एकमात्र प्रस्तर-प्रतिमा का सविस्तर विवेचन किया है, जो महेनजोदड़ो में प्राप्त हुई है और जिसके बारे में निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि वह किसी देवता की ही है। यह छोटी-सी, श्वेत प्रस्तर की आवक्षमूर्त्ति है, जो अब तो ऊँचाई में सिर्फ सात इंच की है, यद्यपि पहले और बड़ी रही होगी, क्योंकि उसका निचला हिस्सा अब गायब है। इस मूर्त्ति की विचित्र, अर्द्ध-निमीलित आँखें, मार्शल के मतानुसार, योग या समाधि की अवस्था को सूचित करती हैं।

किन्तु इस सम्बन्ध में हम यह कहने को बाध्य हैं कि यह व्याख्या सन्दिग्ध तथा अयुक्तिसङ्गत है। ऐसी आँखें किश और उर की कुछ

बहुत पुरानी मिट्टी की मूर्त्तियों में भी पायी जाती हैं। मूर्त्ति-कला के किसी पारखी से यह बात छिपी नहीं रह सकती कि प्रतिपाद्य मूर्त्तियों का मूलाधार होने का दावा उपर्युक्त प्रतिमा नहीं कर सकती।

लेकिन इसके साथ ही हम यह भी स्पष्ट कर दें कि यद्यपि हम भारतीय मूर्त्ति-कला के प्रकार-विशेष की परम्परा को सिन्धु-सभ्यता से सम्बद्ध मानने का कोई कारण नहीं देखते, फिर भी यह तो निर्विवाद ही है कि इसकी जड़ें भारतीय शिल्प-चेतना में बहुत पहले से ही अपना स्थान बना चुकी होंगी और उन्हें हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मूर्त्तिकारों ने पूर्णता प्रदान की। भारतीय कला की प्राणभूत विशेषता यह थी कि, भारतीय दर्शन की तरह, वह धर्म और जीवन से सीधा सम्बन्ध रखती थी। भारतीय मूर्त्तिकारों द्वारा पत्थर में अनूदित समाधि की अवस्था योगाभ्यास के उस महत्त्व का निर्देश करती है, जो भारतीय जीवन में सामान्य रूप से स्वीकृत था।

यहाँ पर हम अपनी आलोचना के लिए मथुरा में प्राप्त* 'जिनयुक्त अयागपट' को लेंगे। इसमें भी हम केन्द्र की ध्यानमग्न आकृति का ही विशेष रूप से अध्ययन करेंगे, क्योंकि उसके चारों ओर की नक्काशी या प्रतीकों तथा स्तम्भों के विवेचन के लिए यहाँ अवकाश नहीं। यह कहना तो अनावश्यक है कि जो बातें इस मूर्त्ति के लिये लागू हैं, वे बहुत दूर तक इस प्रकार की दूसरी मूर्त्तियों के लिए भी सच हैं।

ऐसी मूर्त्तियों की आध्यात्मिकता तथा अभिव्यञ्जनात्मकता के सम्बन्ध में अनर्गल आलोचनाओं की कमी नहीं। यहाँ पहले हम इन मूर्त्तियों की आध्यात्मिकता के रहस्य को ही सुलझाने का प्रयत्न करें। इसके लिए सुविधाजनक यही होगा कि हम उस एक ही मूर्त्ति को ध्यान में रखें जिसकी चर्चा हमने अभी अभी की है।

* समय—प्रायः पहली शताब्दी।

दृष्टिकोण :

इस मूर्त्ति में जो स्थिरता है, जिस गति-राहित्य की अभिव्यञ्जना है, वह बहुत कुछ ऊपरी है। जिसे हम बड़ी आसानी से गतिहीनता कह देते हैं, वह वस्तुतः आत्यन्तिक गत्यात्मकता ही है। यह गत्यात्मकता kinetic है; जैसे लट्टू बहुत तेज नाचते रहने की वजह से देखने में स्थिर मालूम होता है, उसी तरह अपनी अतिशयता के कारण ही यह गतिहीन मान ली जाती है। मूर्त्ति के मुख पर जो प्रशान्त स्थिरता है, उसका, अर्ध-निमीलित आँखों से, खिंचे हुए होठों से तथा हाथ और पैर के मोड़ से, निराकरण हो जाता है। सारी शक्ति और क्रियाशीलता अन्दर की ओर प्रवहमान दीखती है।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि दूसरे प्रकार की भारतीय मूर्त्तियों से कहीं अधिक इस प्रकार की ही मूर्त्तियों में हम पुरुष-शरीर का आदर्श रूप पाते हैं। इन मूर्त्तियों के चौड़े कन्धे और क्षीण कटि-प्रदेश आधुनिक काल के पुरुष-शरीर के आदर्श के भी सर्वथा अनुरूप हैं—शायद ग्रीक मूर्त्तियों से भी अधिक, जिनमें शारीरिक बनावट की बारीकियों, पूर्णता तथा सुन्दरता पर बहुत ही अधिक ध्यान दिया जाता था। ऐसी मूर्त्तियों में सामान्य रूप से यथार्थवाद तथा अभिव्यञ्जनावाद का नयनाभिराम समन्वय हुआ था।

प्रसिद्ध कलाकार तथा कलाविद् रोथेन्स्टाइन समाधि की इस मूर्त्तिगत अभिव्यञ्जना से बहुत प्रभावित हुआ था। The Examples of Indian Sculpture की भूमिका में उसने ठीक ही कहा है—'एक आध्यात्मिक मनोभाव की ऐसी मूर्त्त अभिव्यक्ति कुछ इतनी निर्दोष और परिपूर्ण है कि हजारों वर्षों के बाद भी वह मनुष्य द्वारा निर्मित प्रतीकों में सर्वाधिक प्रेरणायुक्त तथा सन्तोषजनक है।'

समान्यरूप से भारतीय मूर्त्ति-कला में तथा विशेषरूप से जैन मूर्त्ति-कला में, सृजनात्मक प्रतिभा इतनी काफी मात्रा में थी कि यहाँ के लोगों को इस उक्ति से डरने का कोई कारण नहीं था 'Where there is no vision the people perish'.

मनोवैज्ञानिक

१ मनःसमीक्षण

२ युद्ध और अहिंसा

३ नारी

मनःसमीक्षण

किसी विषय की परिणति और प्रसिद्धि के ये भी असन्दिग्ध लक्षण हैं कि उसके प्रति जनता में तो गलतफहमी फैल ही जाती है, उसके विशेषज्ञों तक में उत्कट मतभेद का आविर्भाव हो जाता है। ये बातें मनःसमीक्षण के विषय में पूर्णतया लागू हैं।

फलतः 'मनःसमीक्षण (Psycho-analysis) इस पद के एकाधिक अर्थ प्रचलित हो गए हैं। उन में कुछ तो संगत हैं और कुछ सर्वथा असंगत। इस विषय में प्रवेश करने के पूर्व यह आवश्यक है कि इन विभिन्न अर्थों पर संक्षेप में यथोचित प्रकाश डाल लिया जाय।

व्यापकतम अर्थों में तो कभी-कभी इसके द्वारा मनोविज्ञान-मात्र के क्षेत्र में प्राप्य किसी भी वस्तु का बोध कराया जाता है; किन्तु यह अर्थ प्रकाशकों और पत्रकारों द्वारा 'जनता के प्रथम उत्साह के लाभ उठाने के लिए ही किया गया था और सौभाग्यवश अब इसका व्यवहार कदाचित् ही दीख पड़ता है।

इसका एक दूसरा गलत अर्थ अपेक्षाकृत अधिक प्रचार पा गया है। इसके द्वारा कई मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों को एक संज्ञा से ही अभिहित कर दिया जाता है, लेकिन ऐसा करते समय लोग भूल जाते हैं कि इन विभिन्न सम्प्रदायों का उद्गम-

स्थल यद्यपि एक ही था, फिर भी विकास-क्रम में परस्पर वे इतने दूरवर्त्ती हो गए हैं कि उसके प्रवर्त्तक और अनुगामी एक संज्ञा का व्यवहार अत्यन्त असुविधाजनक और अवैज्ञानिक मानते हैं। और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि जब अपनी स्पष्टतः प्रत्यभिज्ञेय विशेषताओं के कारण इन विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्य 'मनःसमीक्षण' (Psycho-analysis) इस एक संज्ञा से ही अपने को निर्धारित मानना अस्वीकार करते हैं, तो दूसरों को उनके आग्रह की रक्षा करनी ही चाहिए।

उल्लिखित सम्प्रदाय तीन हैं। इन तीनों की उत्पत्ति का श्रेय जैसा हम कह चुके हैं, एक ही व्यक्ति के आविष्कारों को मिलेगा। शायद कहना नहीं पड़ेगा कि वह व्यक्ति फ्रायड था, जिसके एतद्विषयक प्राथमिक आविष्कार विगत शताब्दी के अन्त में हुए थे। शुरू में तो वह अकेले ही अपने प्रयोगों में लगा रहा, किन्तु इस शताब्दी के प्रारम्भ काल से उसके साथ काम करनेवाले अनुगामियों का एक दल इकट्ठा हो गया। फलस्वरूप १९०८ में मनःसमीक्षण-काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ और एक साल बाद ही अन्तर्राष्ट्रीय मनःसमीक्षण एसोसिएशन की भी स्थापना हुई। लेकिन इसके थोड़े दिनों बाद ही इस सम्प्रदाय के दो मुख्य सदस्य (Adler और Jung) क्रमशः इससे अलग हो गए। पहले तो उन्होंने मनःसमीक्षण के कुछ सिद्धान्तों के विशेष पहलुओं पर केवल अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व ही आरोपित किया, किन्तु कालान्तर में उन्होंने अनेक सुनिश्चित सिद्धान्तों के विरुद्ध अपने विचार प्रकट किए। एडलर ने फ्रायड के अचेतन और निग्रह के आधारभूत सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया और यूंग भी मनःसमीक्षण से असम्बद्धप्राय अपने Doctrine of

Types के ही विवेचन में अधिकाधिक खिंचते गए। उनके इस परिवर्त्तित दृष्टिकोण और नव्य व्याख्याओं से यह स्पष्ट हो गया कि लाभप्रद सहयोग के लिए जिस पारस्परिक मतसाम्य की आवश्यकता होती है, वह अब उनमें नहीं रह गया था।

Alfred Adler और C. G. Jung ने जिन दो स्वतन्त्र विचारधाराओं का प्रवर्त्तन किया, उनके अनुगामियों के सम्प्रदाय सम्प्रति क्रमशः व्यक्तिगत मनोविज्ञान (Individual Psychology) और विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान (Analytical Psychology) कहलाते हैं।

स्थान, और उससे अधिक समय, का संक्षेप के लिए तकाजा है। इसलिए हमने मनःसमीक्षण के सारभूत सिद्धान्तों तक ही अपना प्रतिपादन सीमित रखा है। इस आवश्यक इतिवृत्तात्मक पृष्ठाधार से सन्तोषकर अब 'प्रकृतमनुसरामः'।

फ्रायड के कथनानुसार व्यक्ति के अभ्यन्तर की तुलना एक ऐसी इमारत से की जा सकती है, जिसकी दो मंजिलें हों और उनमें नीचेवाली मंजिल तहखाना हो। दोनों मंजिलों में एक दूसरे से भिन्न प्रकार के बाशिन्दे रहते हैं। ऊपर रहनेवाला परिवार (चेतन; The conscious; Ego) छोटा-मोटा, साफ-सुथरा और अभिजात है। इसे रूढ़ियाँ प्रिय हैं, इसके आचरण में संयम दीख पड़ता है, यह अपने पड़ोसियों के सामने भला दीखने के लिये सदैव सचेष्ट रहता है; किन्तु इसके इस स्तुत्य प्रयत्न में नीचेवाली मंजिल के परिवार (अचेतन ; The unconscious; Id) द्वारा अनवरत व्याघात पहुँचा करता है। यह निम्न स्तर का परिवार भी मानों अपनी उन्नति के लिये ऊपरवालों से मिलना चाहता है; किन्तु यह परिवार ऊपरवाले की तुलना में

बहुत बड़ा, जंगली, गंदा, कुत्सित, स्वार्थी और कोलाहलपूर्ण है। इसे दूसरों की आदर-भावना की रंचमात्र चिन्ता नहीं रहती। इसकी वासनाएँ उच्छृङ्खल हुआ करती हैं। उनकी पूर्त्ति के लिए यह दूसरों की पर्वाह नहीं करता। इसके सिवा कि यह ऊपरवाली मंजिल में पहुँचकर अपनी स्थिति सुधारने की प्रशंसनीय चेष्टा किया करता है और कि इसके पास उत्साह का अक्षय भांडार है, इसकी प्रशंसा में और कुछ नहीं कहा जा सकता—चाहने पर भी नहीं। कम-से-कम ऊपर के परिवार की यह सुनिश्चित धारणा है। फलतः इन घृण्य पड़ोसियों को नीचे ही दबाये रखने (Repression ; Inhibition) के उद्देश्य से ऊपरवाले परिवार ने मानों एक द्वारपाल नियुक्त कर रखा है (उसे ही फ्रायड Censor कहता है)। उसका काम है दो मंजिलों की सीढ़ियों पर खड़े रहना और यदि नीचेवाले ऊपर जाने की अनाधिकार चेष्टा करें तो उन्हें रोकना। इस कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए वह अविच्छिन्न रूप से प्रयत्नशील रहता है। इसका परिणाम होता है कि सीढ़ियों पर सदैव तकरार हुआ करती है।

इन झगड़ों के तीन रूप हैं—

(१) द्वारपाल नीचे के बाशिंदे को सदा के लिए दबाए रखने में सफल हो जा सकता है। इस प्रकार, वायु और प्रकाश से वंचित और बाहर निकलने के लिए प्राकृतिक मार्ग में अवरुद्ध यह विफलप्रयत्न व्यक्ति (असन्तुष्ट वासना ; Unsatisfied desire) विकार-युक्त हो जाता है। जैसे जल की धारा बाँध से घिर कर प्रवाह-हीन दलदल (Complex) में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार यह व्यक्ति कुछ काल के उपरान्त सारी इमारत को विषाक्त कर दे सकता है और

न्यूनाधिक मात्रा में इसका प्रभाव उसमें प्रत्येक रहनेवाले के आचरण पर अवश्यमेव पड़ेगा (मज्ज्ञातन्तुविकार ; Neurosis) ।

(२) नीचे रहनेवाला व्यक्ति द्वारपाल की निगरानी के बावजूद, लेकिन फिर भी कुछ शर्तों के साथ ही, अपने प्रयत्न में सफल हो जा सकता है। शर्तें ये होंगी कि उसे अपना परिष्कार करने के लिये तैयार होना पड़ेगा, अपने को आबरूदार बनाया जाना स्वीकार करना होगा। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि उसके आदिम और उच्छृङ्खल, हिंस्र और विस्फोटक व्यक्तित्व को इतना तो स्तिमित होना ही पड़ेगा कि वह समाज की प्रचलित रूढ़ियों में पैठ सके। सभ्य समाज मे फिट् होने के लायक बनाए जाने की इस रीति (उत्कर्ष ; Sublimation) के परिणामस्वरूप नीचे के तल्ले का अप्रत्यभिज्ञेय विपर्यय हो जा सकता है। उदाहरणार्थ, अपनी दाई के साथ भाग निकलने की अचेतन वासना का यह उत्कर्ष हो सकता है कि किसीको अकस्मात् एक दिन चटनी खाने से घृणा हो जाय।

(३) निचले तल्ले का बाशिंदा जैसा-का-तैसा ऊपर चला आ सकता है। यह तब होता है, जब द्वारपाल अपनी जगह पर मुस्तैद नहीं रहता, खासकर जब वह सो जाता है। इसी वजह प्रायः स्वप्नों में अपने नीचे के तल्ले के बाशिंदों से हमारी मुठभेड़ हो जाया करती है, और यद्यपि, जागने पर जब हम अपने स्वप्नों को स्मरण करने का प्रयत्न करते हैं, तब, फिर से अपनी ड्यूटी पर तैनात द्वारपाल स्मरण-क्रिया में व्याघात डालकर इन स्वप्नों को परिवर्त्तित रूप दे देता है, फिर भी अचेतन व्यष्टि के गुप्त रहस्यों के उद्घाटन के लिये मनःसमीक्षक उन स्वप्नों की व्याख्या को सर्वोत्तम उपाय मानते हैं।

दृष्टिकोण :

बहुत-से मनःसमीक्षकों की यह धारणा है कि ऊपरी तल्ले के सभी बाशिंदे नीचे के बाशिंदों के उत्कर्षप्रापित (Sublimated) संस्करणमात्र हैं। फिर फ्रायड के अनुगामी इस बात पर जोर देते हैं कि सभी या प्रायः सभी निम्न स्तर की वासनाओं का स्वरूप रत्यात्मक (Libido ; Sexual impulse) होता है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि इस स्थल पर Sex शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक और शास्त्रीय है।

स्पष्टतः हमारा मस्तिष्कीन जीवन केवल अंशतः प्रत्यक्ष है ; और यह प्रत्यक्ष अंश भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं। मनःसमीक्षण के सिद्धान्तों की स्थापना के पूर्व लोगों का विश्वास था कि हम किसी हद तक अपने विचारों और वासनाओं का नियन्त्रण कर सकते हैं और इसलिए हम बहुत दूर तक अपने आचरण के लिए जिम्मेदार माने जा सकते हैं। साधारणतः हमें यही शिक्षा मिलती है—और हम इस पर विश्वास करने के आदी हो गये हैं—कि हम में एक ऐसा गुण या तत्त्व है, जिसे हम विवेक (Conscience) कहते हैं, जो उचितानुचित का खयाल रखता है। किन्तु यदि हम फ्रायड के दृष्टिकोण को युक्तियुक्त मानते हैं, तो यह विवेक खुद ही अचेतन वासना-विशेष का उत्कर्ष है और हमारा इसके प्रति भी उसी तरह कोई दायित्व नहीं है, जिस तरह उन वासनाओं के प्रति, जिन्हें यह नियन्त्रित करना चाहता है।

इस मामले में फ्रायड जिस परिणाम पर पहुँचते हैं, वह मैक्डयूगल के स्वभाववाद (Theory of Instinct) से बहुत भिन्न नहीं, क्योंकि दोनों ही नैतिक उत्तरदायित्व की जड़ पर ही कुठाराघात करते हैं।

यहाँ हमें विस्तृत खंडन-मंडन अभिप्रेत नहीं, किन्तु फ्रायड के सिद्धान्तों को यथासम्भव सर्वाधिक सरलता और संक्षेप से

समझने के लिए जिस रूपक का व्यवहार किया जाता है, उसका वर्णन कर चुकने पर उसकी कुछ अपूर्णताओं और दुर्बलताओं का निर्देश भी कर देना समीचीन होगा। वस्तुत: उन्हीं अपूर्णताओं और दुर्बलताओं के कारण मन:समीक्षण को पूर्ण सैद्धान्तिक स्वीकृति नहीं मिलती, अन्यथा मज्जातन्तु-विकारों की चिकित्सा के लिए इसकी उपादेयता वैज्ञानिकों द्वारा यथार्ह स्वीकृत हो चुकी है।

वास्तविक कठिनता अचेतन को एक ऐसा भूगर्भस्थित कारागार मानने में है, जिसमें दबी वासनाएँ बाहर निकल भागने के लिए छटपटाती रहती हैं। यह कुछ इतना नाटकीय हो जाता है कि इसे वास्तविकता की प्रतीकात्मक व्याख्या मानने में भी कुछ लोगों को सङ्कोच होना स्वाभाविक है। जब हम अस्थायी रूप से किसी वासना को दबा देते हैं या भूल जाते हैं, तब यदि उसका पुनर्वार आविर्भाव होता है तो हमें यह कहने का क्या अधिकार है, अविश्वास समालोचक जिज्ञासा करता है, कि यह वस्तुत: किसी-न-किसी प्रकार कहीं-न-कहीं मौजूद ही थी? किसी ने इस पर एक व्यंग्य और कवित्वपूर्ण अर्थान्तरन्यास किया है: वसन्त ऋतु प्रति वर्ष लौटती है, तो क्या इसका अर्थ है कि वह शिशिर-पर्यन्त पृथ्वी में छिपी बैठी थी।

जो भी हो; यदि हम यह मान भी लें कि अचेतन के जिस सिद्धान्त पर मन:समीक्षक प्रयोग करते हैं, वे दृढ़ भित्ति पर स्थापित नहीं हैं, तो भी मन:समीक्षण सम्बन्धी पद्धतियों के व्यवहार से उपलब्ध चिकित्सात्मक उपादेयता अस्वीकृत नहीं की जा सकती; मस्तिष्क और अचेतन गहराइयों की थाह लेना और वहाँ प्राप्य तत्त्वों को प्रकाश में लाना इन पद्धतियों का लक्ष्य रहा है। इसलिये इनकी युक्तियुक्तता इसी गृहीत कल्पना में निहित है कि मस्तिष्क के कुछ दृष्टिगोचर विस्तार भी हैं और ये उतने ही महत्त्वपूर्ण और सफल अनुसन्धान के योग्य हैं, जितने कि दृष्टिगोचर अंश। सिद्धान्तों की शाब्दी अपूर्णता से फ्रायड के महान् कृतित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

युद्ध और अहिंसा

जीव-जगत् में मनुष्य का प्राणि-शास्त्रीय प्राधान्य मुख्यतः उसके मस्तिष्क पर ही निर्भर है। मनस्तत्त्व-विश्लेषण मस्तिष्क-यन्त्र, बुद्धि-विकास का निरूपण करता है। इस प्रकार यह केवल मनुष्य के वैयक्तिक चरित्र की विशेषताओं या विचित्रताओं की ही नहीं, किन्तु समष्टि रूप से मानव संस्कृति की भी बहुत अंशों में व्याख्या कर सकता है। मनस्तत्त्व-विश्लेषण के हमारे नैतिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले नवीन उद्घाटन बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। कदाचित ये उद्घाटन अपने सामाजिक प्रभाव में, जीवन में रति (Sex) के महत्त्व से सम्बन्ध रखनेवाले प्रारम्भिक अन्वेषणों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् प्रमाणित होंगे।

कुछ वर्ष हुए, अस्तङ्गत राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में 'युद्ध क्यों ?' इस विषय पर इस युग के दो सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों के मत का प्रकाशन हुआ था। वे दो वैज्ञानिक हैं—आइन्स्टाइन और फ्रायड जिनमें पहले पदार्थ-विज्ञान के तथा दूसरे मनस्तत्त्व विश्लेषण के आचार्य हैं। दोनों यहूदी हैं, * जर्मनी की यहूदी-विरोधी नीति के शिकार। कहने का तात्पर्य है, उल्लिखित पुस्तक 'Why War ?' †

---

* जब यह प्रबन्ध प्रकाशित हुआ था तब फ्रायड जीवित थे।

† इस शीर्षक की एक उल्लेखनीय पुस्तक प्रसिद्ध दार्शनिक जोड (Joad) ने भी लिखी है।

में पाये जानेवाले विचारों को वैज्ञानिक और दार्शनिक ही नहीं, किन्तु सांसारिक दृष्टिकोण से भी, अभिव्यक्त करने के लिये वे समर्थ और अनुभवी अधिकारी हैं।

आइन्स्टाइन ने चिकित्सा के सङ्केत की ओर ही ध्यान रक्खा है। रोग के वैज्ञानिक निदान का भार उन्होंने फ्रायड पर ही छोड़ दिया है। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि दोनों मिलकर भी इस जटिल समस्या का सर्वाङ्गीण समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके हैं।

आइन्स्टाइन के विचारानुसार युद्ध की समस्या का व्यावहारिक समाधान सिद्धान्ततः अत्यन्त सरल है: "अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की प्राप्ति का अर्थ है, प्रत्येक राष्ट्र द्वारा एक निश्चित सीमा में, पर साथ ही साथ प्रतिबन्धरहित रूप में, अपने-अपने राजनैतिक कार्य-स्वातन्त्र्य का, अर्थात् सत्ता का, आंशिक समर्पण। इसमें तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता कि किसी दूसरे मार्ग के अवलम्बन से यह सुरक्षा प्राप्त नहीं होने की; किन्तु ईमानदारी और अथक परिश्रम के बावजूद गत दस वर्षों से (राष्ट्रसङ्घ के रूप में) इस ध्येय की सिद्धि के लिए की गयी चेष्टाओं की विफलता से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य हैं कि इसके पीछे प्रबल मनोवैज्ञानिक कारण काम कर रहे हैं।" संक्षेपतः आइन्स्टाइन का यही मत है। इसमें कोई विशेष मौलिकता नहीं। आदर्शवादियों का यह स्वप्न बहुत पुराना है। विश्व के राष्ट्रों के संघ की कल्पना आज से सौ वर्ष पूर्व क्रान्तप्रज्ञ टेनिसन ने कवित्वपूर्ण ढंग से यों की थी—

Heard the heavens fill with shouting; and there rained a ghastly dew

From the nation's airy navies grappling in the central blue;

Till the war-drum throbbed no longer, and the battle flags were furled

In the Parliament of man, the federation of the world.

प्रथम महायुद्ध के अनन्तर प्रेसिडेन्ट विल्सन राष्ट्रसंघ के रूप में इस आदर्श को बहुत अंशों में फलीभूत करने में समर्थ भी हो गये थे। इस प्रयोग के क्रमिक विनाश को देखकर सर्वत्र निराशा छा गयी थी। बहुत-से चिन्तकों ने इसके समर्थन में अपनी बौद्धिक शक्ति का व्यय किया, जिनमें अन्तिम उल्लेखनीय व्यक्ति शायद Ernest Streit हैं। एक पदार्थ-शास्त्री की हैसियत से आइन्स्टाइन के एतत्सम्बन्धी विचारों का विशेष मूल्य नहीं होता; परन्तु चूँकि सभी विज्ञान अपनी पराकाष्ठा को पहुँच कर दर्शन में ही व्याप्त हो जाते हैं, इस न्याय से दार्शनिक आइन्स्टाइन ने इस योजना का समर्थन कर इसे बहुत बल दिया है।

आइन्स्टाइन इस कल्याण-प्रद योजना की विफलता की व्याख्या कर सकने में अपनी असमर्थता स्वयं स्वीकार करते हैं और इसी कारण फ्रायड ऊपर मनुष्य के प्राकृतिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अपनी सूक्ष्मावेक्षिणी प्रज्ञा के प्रकाश से इस समस्या को स्पष्ट करने का भार छोड़ दिया है।

फ्रायड वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण कर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वह मनुष्य में दो आभ्यन्तर और विरोधी प्रवृत्तियों के अस्तित्व की कल्पना करते हैं—"यह दोनों प्रवृत्तियाँ हैं सृष्टि और नाश करने की भावनाएँ; प्रेम और

घृणा, समस्त प्राणि-जगत् को परिव्याप्त करनेवाले आकर्षण और विकर्षण के ध्रुवान्त। इस विनाशप्रिय प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने के लिए किसी सफल उपाय को बता सकने में वे असमर्थ हैं, उल्टे वह इस अप्रिय परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह प्रवृत्ति प्राणि-मात्र में वर्त्तमान है, पर जो अपने विनाश के लिए सतत सचेष्ट है, जो सारे जीव-जगत् को पुनः उसकी आदि स्थिति, जड़ता में परिवर्त्तित कर देने के लिए प्रयत्नशील है।" यह मारक प्रवृत्ति, जब बाह्य वस्तुओं के विरुद्ध बहिर्मुख विकास प्राप्त करती है, तो ध्वंसात्मक होती है। पर कभी-कभी इसका वेग अन्तर्मुख भी होता है और मनुष्य की अनेक प्राकृतिक विचित्रताओं का कारण इसी ध्वंसात्मक प्रवृत्ति के अन्तर्मुख होने में है। इससे यह स्पष्ट है कि जब अन्तर्मुख प्रवृत्ति अधिक व्यापक रूप के क्रियाशील होती है तो एक निःसन्दिग्ध विकृत वस्तुस्थिति का आविर्भाव होता है और इस दृष्टिकोण से ध्वंसात्मक प्रवृत्ति का बाह्य जगत् के प्रति विस्फोट कल्याणकर ही होता है। और यही मनुष्य में पायी जाने वाली हिंसात्मक प्रवृत्तियों की जीव-शास्त्रीय युक्तियुक्तता है। यों साधारणतः यही तथ्य अग्राह्य प्रतीत होगा, किन्तु वस्तुतः जो बात अपेक्षाकृत अधिक अव्याख्येय है, वह यह कि हम उन कुटिल, पर सर्वथा प्राकृतिक प्रवृत्तियों के शमन के लिए इतनी उत्सुकता क्यों दिखाते हैं।

मानव प्रवृत्ति का विश्लेषण फ्रायड ने एक दूसरे दृष्टिकोण से भी किया है। अप्रिय वास्तविकताओं को प्रमाणित करने की उनकी प्रतिभा असाधारण है। विश्व के चिन्तकों के सामने समस्या है, सभ्य मनुष्य की प्रकृति में बर्बर हिंसा की भावना का उदय क्यों होता है? उसका शमन किस प्रकार

सम्भव है ? फ्रायड एक बार स्वयं भी अपने परिणाम पर स्तम्भित हो गये होंगे : हिंसा तो मानव प्रकृति में निहित विशेषता है ; फिर जो सर्वथा प्राकृतिक है, हम उसका शमन करने के लिये व्यग्र हों, आश्चर्य तो इसी में है। मनस्तत्त्व-विश्लेषण के विज्ञान के अनुसार नियमन विकारों का जनक होता है। रत्यात्मक दृष्टिकोण से वह इसका विरोध कर चुके हैं। क्या इस मामले में यह उपयोगी सिद्ध होगा ? हम फ्रायड के अनिश्चय की कल्पना कर सकते हैं।

फ्रायड इस असुखकर परिणाम पर पहुँच कर रुक जाते हैं। इस समस्या का कोई समाधान वे नहीं बता सके हैं, इससे उनके तत्सम्बन्धी विश्लेषणात्मक अध्ययन के मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और कुछ नहीं तो उनके प्रयास के फलस्वरूप यह विषय मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अंग तो बन ही गया। इस विषय को प्रकाश में लाने योग्य समझ कर उन्होंने ही इस दिशा में सर्वप्रथम पैर बढ़ाए। आगे भी जो अन्वेषण हुए, उन्हीं की निर्दिष्ट पद्धति से। Dr. Edwarb Glovar ने अपनी एक अतिशय महत्त्वपूर्ण पुस्तक में इस प्रश्न को फिर से उठाया। वे अपनी पुस्तक का प्रारम्भ फ्रायड के उपर्युक्त प्रबन्ध के एक प्रासंगिक अंश के उदाहरण से करते हैं। ग्लोवर का भी उद्देश्य है युद्ध और शान्ति से सम्बन्ध रखनेवाली मनोवैज्ञानिक उलझनों का विवेचन। संक्षेपतः, उनके प्रतिपादन के अनुसार, शान्ति की साधक और युद्ध को प्रेरित करनेवाली कई प्रवृत्तियों में तात्त्विक समानता है और जब तक यह तथ्य हम समझ नहीं लेते, तब तक कोई भी प्रभावोत्पादक शान्ति-सम्बन्धी प्रचार सम्भव नहीं होगा। जब मनुष्य की

ध्वंसात्मक प्रवृत्ति दबा दी जाती है (यह साधारणतः शैशवावस्था में होता है), तब दो तरह की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं की सम्भावना रहती है। यदि ध्वंसात्मक प्रवृत्ति बहिर्मुख हुई और उनमें रति-तत्त्व का समावेश हुआ तो सम्भावित प्रतिक्रिया पर-पीड़न का रूप धारण करेगी और अन्तर्मुख हुई तो आत्म-पीड़न का। युद्ध और शान्ति की समस्याओं पर डॉ० ग्लोवर के अनुसार ये इस प्रकार घटित होती हैं—"शान्ति के प्रचार के प्रयत्न तत्त्वतः पश्चाद्गामी नीति ही साबित होंगे, यदि उनकी सफलता के लिये केवल नैतिक या आर्थिक तर्कों का आश्रय लिया जायगा, यदि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि, निःशस्त्रीकरण, प्रतिबन्ध, सहयोग आदि पर ही जोर दिया जायगा और यदि अन्तश्चैतन्य प्रेरणाओं की उपेक्षा की जाती रहेगी। शान्ति और युद्ध दोनों ही समान मानसिक शक्तियों के, भिन्न-भिन्न मस्तिष्कीन प्रणालियों के द्वारा, प्रवाह के परिणाम हैं। दूसरे प्रकार से कह सकते हैं, शान्ति और युद्ध इन दोनों के ही व्यापार मानसिक खींचतान के निराकरण के लिए ही होते हैं. इनमें में जो बाह्य और मानसिक विभिन्नता होती है, वह केवल व्यवहृत उपकरणों से। दोनों में ही प्रवर्त्तक प्रेरणा होती है ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों की ही; विशेषतः वैसी प्रेरणा रति-तत्त्व के समावेश से पर-पीड़न कहलाती है। पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ध्वंसात्मक प्रवृत्ति का, इस सक्रिय रूप के सिवा, एक विरोध-रहित रूप भी होता है, जो आत्मपीड़न कहलाता है—यदि उसमें रति-तत्त्व का समावेश हो जाय। क्रियाशील होने पर ये दूसरे प्रकार की विरोधरहित ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ अपेक्षाकृत

अधिक गुप्त होती हैं ; पर साथ-ही-साथ ये युद्ध की स्थिति को स्वीकार करने के लिए या उसका स्वागत तक करने के लिए अन्तश्चैतन्य तत्परता की पर्याप्त सहायता करती हैं। यह केवल आत्म-पीड़न की प्रवृत्तियों के शमन से सम्भव होता है, यह बात नहीं ; प्रत्युत इससे भी अधिक यन्त्रणा सहने से मनुष्य को स्वभावतः सन्तोष होता है, क्योंकि उसका अन्तर्गूढ़ विश्वास है कि इस तरह उसके अज्ञात अपराध का मार्जन हो जाता है।"

ग्लोवर ने इस समस्या के विश्लेषण को जहाँ फ्रॉयड ने छोड़ दिया था वहाँ से उठाया है और निस्सन्देह वे आगे बढ़े हैं, लेकिन जहाँ कई ग्रन्थियाँ खुल गयी हैं, वहाँ कई अनाविष्कृत जटिलताएँ भी उठ खड़ी हुई हैं। पाश्चात्य देशों में शान्ति-प्रचार की साम्प्रतिक पद्धतियों का खोखलापन दिखाने में इस पुस्तक का बहुत हाथ रहा है, जैसा कि उसमें प्रतिपादित ध्वंसात्मक प्रवृत्ति के आत्मपीड़न-भाव की खतरनाक क्रियाशीलता के उपर्युक्त सार से स्फुट हो गया होगा। इस उद्घाटन से सम्बद्ध अन्य बातों पर भी प्रकाश पड़ा है। पहली बात तो यह कि बहुत लोग बुद्धि से शान्तिवादी होने पर भी व्यवहारतः शान्तिवादी नहीं हो सकते, इस विरोधाभास में क्या हेतु है, इसकी व्याख्या हो जाती है। दूसरी बात है कि अब हम पर यह प्रकट हो जाता है कि बहुत-से तथाकथित शान्तिवादियों का विश्वास तर्क-संगत नहीं होता ; इनके शान्तिवाद का कारण होता है एक ऐसी प्रवृत्ति की प्रच्छन्न विकृति, जिसे हमें पहचान कर सजग नियन्त्रण में रखना चाहिए।

पर साथ-ही-साथ यह भी है कि ग्लोवर स्वीकार करते हैं कि उन्होंने भी मुख्यतः निदान का ही प्रयत्न किया है और अभी इस दिशा में भी अधिक वैज्ञानिक अनुसन्धान की आवश्यकता है।

फ्रायड का ध्वंसात्मक प्रवृत्ति का सिद्धान्त केवल कल्पना ही है। उसे स्वीकार कर लेने से फ्रायड के पूर्वोल्लिखित निष्कर्ष पर ही पहुँचना पड़ता है कि युद्ध के विरोध में खड़ा होना ही, अर्थात् शान्तिवाद ही, अप्राकृतिक प्रयास है—गर्हित होने पर भी प्रकृति-संगत तो युद्ध-भावना ही है। यह स्तुत्य वस्तु-स्थिति है या गर्हित, इस पर माथापच्ची करने का काम निःस्पृह वैज्ञानिक का नहीं। फ्रायड ने यथा-शक्ति कठोर, नग्न वास्तविकता को विश्लिष्ट कर रख दिया और बस। यदि हम उनके परिणाम को स्वीकार कर लेते हैं—हम, जो परिणाम से अधिक उपायों के लिये उत्सुक व्यक्ति हैं—तो हम देखते हैं, हमें निराशा ही हाथ लगेगी।

और ग्लोवर? उनका विश्वास है कि युद्ध को प्रेरित करनेवाली प्रवृत्तियों पर शैशवावस्था में ही ध्यान नहीं दिया जाता, जबकि शान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का बीजारोपण इसी काल में होता है। तो यह तो शिशु का पालन-पोषण-कर्त्ता ही कर सकता है। पर उसमें आवश्यक गुणों का आरोप कैसे किया जाय? यह डाक्टर ग्लोवर नहीं जानते। यह फ्रॉयड नहीं जानते।

यों सिद्धान्त रूप में डा० ग्लोवर द्वारा इंगित अनुसन्धान और प्रयोगों के कार्य को हाथ में लिया जा सकता है; पर इनका परिणाम विवादग्रस्त है, इतना ही नहीं; इनके लिये शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, तब कदाचित् इनकी सफलता या विफलता के विषय में कुछ निश्चित मालूम हो सकेगा। और भी, प्रयोग विधिवत् तभी हो सकते हैं, जब मनोविज्ञान-विशेषज्ञ को सर्वोच्च अधिकार हासिल हो जायँ। पर क्या यह सम्भव है? रोग का निदान तो बहुत कुछ हो गया; पर यह रोग दुश्चिकित्स्य है—प्रस्तावित उपाय सर्वथा अव्यावहारिक प्रतीत होता है।

इस विषय ने और भी अनेक वैज्ञानिकों और विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया है। Dr. J. D. Unwin का सिद्धान्त है कि "युद्ध के आविर्भाव को शक्तिशाली श्रेणियों के वर्धमान रत्यात्मक नियमन के साथ जोड़ा जा सकता है। अथवा युद्ध-सुलभ मानसिक परिस्थिति का एक कारण हो सकता है ऐसे अधिनायकों का उद्भव, जो अहङ्कारवश व्यक्तिगत आधिपत्य और व्यक्तिगत मरणोत्तर अस्तित्व की सम्भावना में विश्वास रखते हैं।" इसमें फ्रॉयड या ग्लोवर के विश्लेषणों की-सी सार्वदेशिक, सार्वकालिक व्यापकता का अभाव है; यद्यपि एक विशेष प्रकार के युद्ध के सम्भाव्य कारणों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। युद्ध के पहले प्राय: सभी पत्रों में यह छपा था कि हिटलर का फलित ज्योतिष में अगाध विश्वास था और उसके महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम के निर्धारण में इसका बहुत हाथ रहता है। बाह्यत: यह प्रचार-सा मालूम होता है। यदि ऐसी बातें सच हों तो हम केवल एक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। हिटलर की कूटनीति की चालें एक पागल की भावुकता, अन्धविश्वास या, एक शब्द में, पागलपन की उपज थीं। पत्रकार जिस भावना, जिस रीति और जिस उद्देश्य से यह प्रचार करते थे, वह विश्वासोत्पादक नहीं, किन्तु निर्लिप्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर ऐसी सम्भावना स्वीकार करनी पड़ती है। यहाँ उक्त सिद्धान्त का मूल्य स्पष्ट है; यद्यपि साधारणत: यह सर्वत्र लागू नहीं हो सकता।

कुछ बुद्धिवादियों और कलाकारों ने युद्ध के प्रति सर्वथा विरोधरहित नीति का प्रतिपादन और पालन किया है। इससे केवल यही प्रमाणित होता है कि उन्होंने वास्तविकता की ओर से आँखें मूँद ली हैं। इसी श्रेणी के कुछ व्यक्तियों ने अपने-अपने विचारानुसार सचेष्ट समाधान भी प्रस्तुत किए हैं और, उनकी

विफलता को देखते हुए भी, उनसे असहमत होने हुए भी, उनकी सचाई की प्रशंसा करनी पड़ती है।

पहले प्रकार के लोगों में हम Aldous Huxley Ethel Mannin आदि का और The Peace Pledge Union आदि संस्थाओं का नाम ले सकने हैं। एल्डुअस हक्सले सिद्धान्त रूप में डर्विन के विश्लेषण को स्वीकार करने पर भी युद्ध के प्रति प्रभाव-रहित क्लीब नीति का ही प्रतिपादन करते रहे हैं। एथेल मैनिन महोदया ने तो यहाँ तक कहा है कि 'हमें शान्ति चाहिए, चाहे उसके लिए कोई भी मूल्य चुकाना पड़े, चाहे वह सम्मान से रहित ही क्यों न हो' और Pierre Rammus के शब्दों में 'खराब-से-खराब सरकार भी युद्ध से अच्छी है।' जिसने भी मैनिन के 'Confessions and Impressions' को पढ़ा होगा, वह स्वीकार करेगा कि ऐसा कहने के लिए उनके स्त्रीत्व ने उन्हें कदापि प्रेरित नहीं किया होगा। यह पूर्वोल्लिखित ध्वंसात्मक प्रवृत्ति का ही एक रूप है।

इसके विपरीत उपर्युक्त दूसरे प्रकार के लोगों ने युद्ध के सचेष्ट विरोध में विश्वास प्रकट किया है। और उन्हें इसके लिए प्रथम महायुद्ध के अवसर पर न्यूनाधिक कठिनता भी उठानी पड़ी थी। D. H. Lawrence, Carl Nevinson, Bertrand Russel प्रभृति उल्लेखनीय व्यक्तियों ने यथाशक्ति युद्ध का विरोध कर तद्विषयक आत्म-विश्वास की रक्षा की थी।

जैसा H. G. Wells ने अपनी एक पुस्तक में कहा है—"एक मनोवैज्ञानिक क्रान्ति के बिना मानव जाति की भी वही दशा होगी, जो उन भीमकाय बन्दरों और सम्प्रति लुप्त पशुओं की हुई थी, जो अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना सकने में असमर्थ थे।"

दृष्टिकोण :

हमने अबतक प्रस्तुत समस्या को समझने और हल करने के लिए पाश्चात्यों द्वारा विहित प्रयत्नों का ही निरूपण किया है। उन्होंने समस्या को समझा है, पर हम देख आए हैं, वे उसे सिद्धान्त या व्यवहार में हल नहीं कर सके हैं। इस समस्या की ओर भारतवर्ष का भी ध्यान गया है—महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक कर्मवाद के रूप में। आस्ट्रेलिया जाते वक्त जब वेल्स का जहाज बम्बई लगा था, तो उन्होंने अहिंसावाद के विषय में एक सोल्लुण्ठ वक्तव्य देने की कृपा की थी ! पर इस जरठ (अब दिवंगत) लेखक ने कदाचित ही इस पर 'मनोवैज्ञानिक क्रान्ति' के दृष्टिकोण से विचार किया होगा, जो फ्रायड और ग्लोवर के प्रकाश में, हमारा उद्देश्य है।

क्या युद्ध के निश्चेष्ट विरोध की तुलना में महात्मा गाँधी का अहिंसात्मक विरोध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक कल्याणप्रद होगा ? महात्मा गाँधी का कर्मवाद (गाँधीवाद, जैसा स्वयं महात्मा गाँधी कहते हैं, एक अस्पृहणीय संज्ञा है) बिना पर-पीड़न (Sadism) या आत्म-पीड़न (Mosochism) हुए ही (यह ग्लोवर की उलझन का समाधान होगा) एक ऐसी प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति पाने का मौका दे सकता है, जो 'कुटिल होने पर भी सर्वथा प्राकृतिक है' और जिसके विरोध से मानसिक विकृति का भय रहता है (यह होगा फ्रायड की उलझन का समाधान)। महात्मा गाँधी के 'अंध-भक्त' अनुयायी भी यह शायद ही समझते हैं। महात्मा गाँधी अवश्य यह समझते हैं—उनके द्वारा ही उल्लिखित उनकी 'अन्तर्ज्योति' की एक मात्र यही व्याख्या हो सकती है, जिसे साधारण मनुष्यों के विषय में प्रत्युत्पन्नमतित्व, intuition आदि शब्दों से भी व्यक्त किया जा सकता है। हाँ, यह जरूर है कि

महात्मा गाँधी भी इसे वैज्ञानिक पद्धति से विश्लिष्ट कर विवेक के लिये ग्राह्य नहीं बना सके हैं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने इस विषय में स्पष्टवादिता दिखलायी है। कदाचित् इसीलिए कि व्यवहारत: उनसे बढ़कर महात्मा गाँधी के अनुयायी कम लोग हैं। तो महात्मा गाँधी यह प्रतिक्षण अनुभव करते हैं कि मनुष्य की विनाशात्मक प्रवृत्ति आसानी से प्रशमित नहीं होने की। उनके बहुत-से अनुयायी उनके अहिंसा के सिद्धान्त को नीति के रूप में ही ग्रहण करते हैं और यदि उन्हें मौका मिलेगा तो राजनैतिक प्रतिशोध, पर-पीड़न का दारुण उदाहरण उपस्थित हो सकता है; पर साथ-ही-साथ मध्ययुग में बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण, जैसा श्री वैद्य प्रमाणित करते हैं, और सिपाही विद्रोह के बाद अविच्छिन्न प्रयत्न और निरन्तर पराभव के कारण, भारत के राजनैतिक शरीर (Body Politic) में क्रमशः जिस सैद्धान्तिक और निराशाजन्य आत्म-पीड़न की प्रवृत्ति का उदय हुआ था, वह भी चिन्तनीय है। इसी के निराकरण में उनके अहिंसा के सिद्धान्त की और भद्र अवज्ञा आन्दोलन की वास्तविक उपादेयता सन्निहित है। उनका प्रयत्न तो नहीं, उनके प्रयत्न का परिणाम सदैव यह रहा है कि ध्वंसात्मक प्रवृत्ति का शमन भले ही न हो—क्योंकि तब वह आत्म-पीड़न की विकृति में परिणत हो जायगी—पर उसकी नियन्त्रित रूप से ही अभिव्यक्ति हो। उनके सिद्धान्तों के अविश्वासी अनुयायी के हाथ में उनका मार्ग राजनैतिक पर-पीड़न हो जाता है और उसे वह हिंसा कह कर गर्हित करार देने में कभी सङ्कोच नहीं करते; पर साथ-ही-साथ यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनके अत्यधिक उत्साही,

पर नासमझ, शिष्यों के व्यवहार में गाँधीवाद कायरतापूर्ण विकृत आत्म-पीड़न की प्रवृत्ति में स्खलित हो जाता है, जो विरोधी की पर-पीड़न प्रवृत्ति को शमित करने के बदले प्रोत्साहित करती है। महात्मा गाँधी इस खतरे के बारे में अधिक नहीं कहते, यद्यपि यह भी गाँधीवाद (महात्मा गाँधी भी, यह संज्ञा इतनी प्रचलित हो गयी है, इसका कभी-कभी प्रयोग करने को बाध्य हो जाते हैं) से एकदम भिन्न वस्तु है। समासतः यदि गाँधीवाद का पर-पीड़न में विस्फोट हो जाय, तो वह भी कम खेदजनक नहीं होगा। गाँधीवाद की नौका को इन्हीं 'स्काइला' और 'केरिब्डीज' के मध्य से होकर निकलना है—दोनों एक दूसरे से बढ़कर खतरनाक हैं, दोनों से समान रूप से सतर्क रहना आवश्यक है।

महात्मा गाँधी ने अपनी सत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर अपने अतीत कार्यक्रम के औचित्य में फिर संशय प्रकट किया था। यह आशा की जा सकती है कि यदि वे इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपने सिद्धान्तों का विश्लेषण करें, तो उनकी आध्यात्मिक रहस्यपूर्णता सुस्पष्ट व्यावहारिकता में बदल जायगी।

क्या उल्लिखित पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक गाँधीवाद के समाधान को स्वीकार करेंगे? क्या यह वास्तविक समाधान है? गाँधीवाद का विश्लेषण भी प्रश्नसूचक चिह्नों में ही समाप्त होता है।

नारी

पुरुष अपनी श्रेष्ठता को दो कारणों से युक्तिसंगत सिद्ध करना चाहता है। अव्वल तो यह कि उसका श्रेष्ठ स्थान सर्वथा स्वाभाविक है और दूसरे कि उसका अधिकार स्त्रियों की दुर्बलता का ही परिणाम है।

स्त्रियों की दुर्बलता के विषय में यह विश्वास इतना सार्वजनीन है कि सभी देशों और जातियों में यह सामान्य रूप से पाया जाता है। इस अन्धविश्वास के साथ-ही-साथ पुरुषों के अचेतन मस्तिष्क में बद्धमूल वह आतंक भी है, जिसका प्रादुर्भाव शायद मातृप्रधानता (Matriarchate) के खिलाफ पुरुषों के जिहाद के सिलसिले में हुआ होगा। अस्तु, यह अन्धविश्वास बहुत ही प्राचीन और परंपरागत है। इस बात का प्रमाण प्रायः सभी देशों के साहित्य और इतिहास में मिलता है। वैदिक यम-यमी संवाद से लेकर परवर्त्ती संस्कृत साहित्य और हिन्दी के सन्त-

साहित्य में प्रचुर मात्रा में बिखरी हुई नारी-जाति के प्रति कटूक्तियों से भारतीय पाठक पर्याप्तरूप से परिचित होंगे।

एक बहुत प्राचीन लैटिन के विद्वान् ने नारी के सम्बन्ध में कहा है कि वह पुरुष को पथ-च्युत करनेवाली है—'Woman is the confusion of man'। यूरोप के धर्माचार्यों के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न था कि नारी के आत्मा होती है या नहीं। यही नहीं, अनेकानेक पोप-पादरियों ने अपनी विद्वत्ता का अपव्यय यह प्रमाणित करने में किया कि नारी की गणना मानव-जाति के अन्तर्गत की ही नहीं जा सकती। यूरोप का वह युग, जिसमें किसी स्त्री को डायन कह कर जला दिया जा सकता था, बहुत दिन नहीं हुए कि बीता है। धार्मिकता के अभिमानी हमारे देश में, विशेषतः हिन्दुओं के घरों में, कुछ दूसरे ढङ्ग से, प्रायः उसी कोटि का अत्याचार आज भी स्त्रियों को सहना पड़ता है। लेकिन इसका उल्लेख यहाँ अनावश्यक ही है। बाहर की बात चल रही थी: बाइबल में, 'मूल पाप' (Original Sin) के प्रतिपादन में स्त्रियों को ही सारी बुराइयों की जड़ माना गया है। यूरोप के आदि कवि होमर के इलियड में हेलेन की कथा का यही 'हितोपदेश' है कि एक-अकेली नारी एकाधिक देशों की सुखी जनता के विनाश का कारण बन सकती है।

सारी दुनिया की लोक-कथाओं को देख जाइए, सर्वत्र नारी की नैतिक दुर्बलता, कुटिलता, मिथ्या-भाषण, धोखेबाजी और दुश्चरित्रता से पूर्ण कहानियाँ भरी पड़ी हैं। हमारे यहाँ पुराने जमाने में इन लोक-कथाओं के साहित्यिक संग्रह कथासरित्सागर आदि मौजूद थे।

जिन्होंने अलिफलैला को मूल में या उसके पूर्ण अनुवाद को पढ़ा होगा वे जानते होंगे कि उनकी कहानियाँ भी तत्त्वतः ऐसी बातों से भरी पड़ी हैं। आज भी बाजार में फुटपाथ पर उन कहानियों के छै पैसे, दो आने वाले सर्व-सुलभ हिन्दुस्तानी संस्करण धड़ल्ले से बिकते हैं। लोक-कथा और तत्सम्बन्धी दूसरी बातों के विद्वान् जानते हैं कि इन कहानियों की मूलगत भावनाएँ प्रायः सभी देशों की इस कोटि की रचनाओं में समान रूप से पायी जाती हैं। जिन्हें इस विषय में दिलचस्पी हो, उन्हें टॉनी (Tawney) के कथासरित्सागर के कई जिल्दों में प्रकाशित अँगरेजी अनुवाद के भूमिका-भाग का अवलोकन करना चाहिए। बर्टन-कृत अलिफलैला का अँगरेजी अनुवाद भी पठनीय है।

पोप-पादरियों, प्राचीन कवियों, लोक-कथाओं आदि की बातें छोड़िए। इनके मत का परिपोषण इस युग के या पिछले युग के बड़े-बड़े दार्शनिकों ने भी किया है और उनके कथन को उद्धृत कर विपक्षियों के मुँह को बन्द करने की कोशिश की जाती है। स्ट्रिन्डबर्ग, मोबियो, शोपेनहर, विनिंगर प्रभृति उच्च कोटि के दार्शनिकों ने इस मत की पुष्टि की है। स्वयं ऐसी स्त्रियों की भी कमी नहीं है, जिन्होंने झूठ को बराबर सुनते-सुनते सच मान कर इस सिद्धान्त का समर्थन किया है और करती हैं! ऐसी स्त्रियाँ ही नारी के आत्मसमर्पण, सहनशीलता, क्षांति आदि गुणों के, भावुकतापूर्ण राग अलापा करती हैं। स्वयं हमारे देश में धर्मशास्त्रों और स्वयंभू दार्शनिकों को तो छोड़ ही दीजिए, सभी युग के उत्कृष्ट साहित्य में इन आदर्शों के मोहक चित्र खींचे गए हैं और अभी तक भारतीय स्त्रियों के एक प्रधान

वर्ग के लिए उनकी मृगमरीचिका बनी हुई है। कालिदास, भवभूति, शरच्चन्द्र, जैनेन्द्र, किसी भाषा के किसी प्रसिद्ध साहित्यिक की रचनाओं को ले लीजिए, यह एक बात तो अनिवार्यरूप से मिलेगी ही—नहीं तो शायद भारतीय पाठकों में उसकी कोई कद्र ही न होती। अकेले शरचन्द्र की गल्पों के प्रभाव से कितनी स्त्रियों को आत्म-पीड़न (Masochism) से विकृत सुख उठाने का पाठ मिला है, यह गवेषणा का विषय हो सकता है। कॉलेज और स्कूल की वे लड़कियाँ जो तुलसीदास की कुख्यात पंक्तियों के खिलाफ हाय-तोबा मचाती हैं (दैनिक पत्रों के पाठकों को इस सिलसिले में हाल की एक घटना स्मरण होगी), शरत बाबू के द्वारा, नए जमाने को ध्यान में रखकर, प्रस्तुत की हुई गल्पों को कुछ पैसे और काफी आँसू कीमत में चुका कर पढ़ती हैं। और इस प्रकार नए आवरण में वह मज्जागत परम्परा चली जा रही है।

विदेशों में स्त्रियों की मनोवैज्ञानिक स्थिति इतनी दयनीय नहीं है—यद्यपि यह भी नहीं कहा जा सकता कि इसका सर्वथा अभाव ही है। और, जब स्त्रियों को खुद ही यह मंजूर है तो पुरुषों का कहना ही क्या ? धर्म और साहित्य की बात जाने दीजिये। इस अन्धविश्वास का फल आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्र में वस्तुतः चिन्ताजनक है। पुरुष के बराबर या ज्यादा काम करने पर भी स्त्री को सर्वत्र ही कम मजदूरी मिलती है और इसकी युक्तियुक्तता के बारे में शंका करने का भी अवसर नहीं मिलता।

लेकिन हकीकत क्या है ? इस समस्या के पूर्व पक्ष के तर्कों का आभास तो पाठकों को मिल चुका, इसका उत्तर पक्ष क्या है ? हम तसवीर के दूसरे और सच्चे पहलू को देखें।

बुद्धिवादी मनोवैज्ञानिकों ने इस अन्धविश्वास की तह तक पहुँचने का सफल प्रयत्न किया है। उन्होंने सर्वथा वैज्ञानिक ढङ्ग से औसत पुरुषों और स्त्रियों की बुद्धि और योग्यता की तुलनात्मक परीक्षाएँ (Intelligence and Talent Tests) की हैं। इन परीक्षाओं का परिणाम यह निकला है कि यदि कुछ विषयों में पुरुष या बालकों ने अपेक्षाकृत अधिक बुद्धि या योग्यता का परिचय दिया, तो कुछ दूसरे विषयों में निर्विवाद रूप से स्त्रियाँ या बालिकाएँ बाजी मार ले गयीं—विश्वास कीजिए, इन विषयों में गृह-विज्ञान या खाना बनाना सम्मिलित नहीं था, जिनके सम्बन्ध में पुरुष बड़ी खुशी से स्त्रियों की योग्यता स्वीकार करते हैं। जहाँ बालकों ने गणित में अधिक गति प्रदर्शित की, वहीं भाषाओं के सम्बन्ध में बालिकाएँ ही आगे रहीं। तथाकथित पुरुषोचित कार्यों के लिए आवश्यक अध्ययन के विषयों में बालक, बालिकाओं की अपेक्षा, निस्सन्देह अधिक प्रतिभा का परिचय देते हैं। लेकिन यह अधिक प्रतिभा सिर्फ ऊपरी है। यहाँ हम पश्चिम की बालक-बालिकाओं का दृष्टान्त ले रहे हैं। वहाँ की साधारण लड़कियों को किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, यदि इसका निरूपण किया जाय, तो स्त्रियों की अपेक्षाकृत कम योग्यता के दावे का खोखलापन मालूम हो जायगा।

इन बेचारी लड़कियों को हर घड़ी यही सुनने को मिलता है कि वे बालकों की तुलना में सर्वथा अयोग्य हैं। अगर वे किसी काबिल हैं तो गैरजिम्मेवार और फालतू कामों के लिए ही। किसी बात को बार-बार सुनने के बाद आदमी स्वभावतः उसमें विश्वास करने लग जाता है। यदि ये बालिकाएँ अपने

को अयोग्य समझने लगें और आत्मविश्वास खो देने के बाद अवसर आने पर अयोग्य प्रमाणित हो जायँ, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पराधीनता के कारण विजेताओं के प्रचार के फलस्वरूप, गौरवपूर्ण अतीत का दावा रखनेवाला समस्त देश भी इस हीन-भावना का शिकार हो जा सकता है। असत्य की निरन्तर पुनरावृत्ति की प्रतिक्रिया कितनी सफल हो सकती है, इसका हमें पूरा अनुभव है। प्रस्तुत विषय पर हमारे लिए शायद औरों से ज्यादा हमदर्दी के साथ विचार करना मुमकिन होना चाहिए।

अधिकतर लड़कियों की अयोग्यता इसी हीन-भावना के परिणामस्वरूप प्रदर्शित होती है। यह तर्क सर्वथा युक्तिसंगत है। पूर्वोक्त परीक्षाओं के गहरे विश्लेषण से यह पता चला कि कुछ ऐसी भी लड़कियाँ थीं जो सभी प्रकार से लड़कों के समकक्ष थीं। वे जिस वातावरण में पली और बढ़ी थीं उनकी जाँच करने पर इसका कारण स्पष्ट हो गया कि दूसरी औसत लड़कियों से इनमें यह भिन्नता क्यों पायी गयी थी। इन लड़कियों के परिवारों की स्थिति यह थी कि वहाँ पिता के बदले माता ही परिवार के भरण-पोषण के लिए, किसी-न-किसी कारण अर्थोपार्जन के लिए जिम्मेदार थी। फलतः इन लड़कियों को कम-से-कम ऐसी परिस्थिति में नहीं रहना पड़ता था, जहाँ स्त्रियों को पुरुषों के अधीन रहना पड़ता हो और वे इस अधीनता को जाने-अनजाने अनिवार्य तथ्य के रूप में ग्रहण कर लेती हों।

फिर हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि परिस्थितियों की प्रतिकूलता के बावजूद बहुसंख्य स्त्रियों ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, विशेषतः साहित्य, कला और चिकित्सा-विज्ञान में असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है। उनकी कृतियों या अनुसन्धानों की श्रेष्ठता

और उपादेयता की मुक्त कंठ से प्रशंसा हो चुकी है। दूसरी ओर ऐसे असंख्य पुरुष हैं, जो कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं कर पाते, उनमें किसी प्रकार की कोई विशिष्टता नहीं रहती। इतना ही क्यों, वे हद दर्जे की अयोग्यता प्रदर्शित करते हैं और यदि उनका उदाहरण लेकर बहस के लिए बहस करनी हो, तो इस बात के लिए प्रमाणों की कोई कमी नहीं रह जाती कि पुरुष स्त्रियों की तुलना में निम्न श्रेणी के प्राणी हैं।

इस युग की आवश्यकताओं ने पुरुषों को इस बात के लिए बाध्य किया है कि वे स्त्रियों के प्रति अपने भाव बदलें। स्त्रियाँ उन कामों को योग्यता के साथ निभा रही हैं, जिन्हें कुछ दिनों पहले तक केवल पुरुषों के योग्य ही समझा जाता था। लेकिन इस बात का पूरा अंदेशा है कि यदि और किसी कारण से नहीं तो बेकारी की समस्या दूर करने के खयाल से ही पुरुष फिर से अपनी पुरानी मनोवृत्ति का परिचय देने लग जायँगे।

आज हमारे पिछड़े हुए देश में भी समाज के प्रगतिशील प्रतिमानों को स्वीकार किया जा रहा है और हम इस बात का भरोसा कर सकते हैं कि हम नारी-समाज के प्रति भी उदार दृष्टिकोण अपनाने में हिचकेंगे नहीं। दूसरे देशों में भी नारियों को अपने अधिकारों के लिए लड़ना पड़ा है और आज जो कुछ भी उन्होंने हासिल किया है उसका बहुत कुछ श्रेय उन्हीं को है। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि समाज में आकस्मिक पर कल्याणकर परिवर्त्तन होते हैं और एक ही छलाँग में वह अग्रगामी देशों की बगल में स्थान पाने का अधिकारी हो जाता है।

पास में ही, टर्की के नारी-समाज ने जो आश्चर्यजनक विकास किया है उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ तो है

पर, शायद, उतना नहीं जितना होना चाहिए था। रूस का समाज, विशेषतः नारी-समाज, किस प्रकार एकबारगी अन्धकार-युग से निकल कर आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व कर रहा है और फिर भी उसकी आँखों में चकाचौंध नहीं आयी है, यह एक ऐसी घटना है जिससे भारतीय नारी-समाज को स्पृहणीय प्रेरणा मिल सकती है।
